सिद्धयोग

नवम्बर १९९१

संस्थापक सम्पादक
योग योगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।
— भगवद्गीता ८-२७

वर्ष: २४

अंक : ८

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सवांई, आगरा

प्रकाशक

सिद्धगुफा प्रकाशन
सवाई, आगरा

सम्पादक :
श्री 'दिव्य'

नवम्बर
१९९१

इस अंक में पढ़िए

लेख

पृष्ठ

★ शुचिसद्मने नमः (प्रार्थना) १

★ हेय एवं हेय हेतु (विशेष लेख) २
—ब्रह्मलीन योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

★ आ रे मेरे मोहना ! पलक मूँदि तोहि लेहुँ (सम्पादकीय) ४

★ रमता जोगी बहता पानी ७
—योगी रमताराम

★ विजय पर्व (कविता) ९
—श्री दिव्य

★ परम पावन सद्गुरुदेवजी के जन्म-दिन पर भाव-प्रसून ११
—ब्र० श्री दाऊलाल शर्मा

★ योगी की रहनि १३
—आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा, एम.ए.,एम.एड.

★ सन्त सद्गुरु १७
—श्री विष्णुप्रसाद व्यास

★ जगत् रचना का उद्देश्य कर्मफल-भोग २५
—ब्र० श्री जगन्नाथ 'पथिक'

★ बन्ध और मोक्ष का कारण २८
डा० श्यामप्रसाद शर्मा

★ आपसा सद्गुरु नहीं देखा ३१
—श्री नूतन शर्मा, (मेरठ)

★ आत्म-स्वरूप का विवेचन ३३
—श्री द्वारिकाप्रसाद शर्मा

★ उपयोगी द्रव्य—नींबू ३७
—डा० श्री गणेश नारायण चौहान

★ शक्तिदायिनी मधुर नींद ४१
—डा० विनय मोहन शर्मा

★ श्री सिद्ध गुफा ही गुरु ४६
—श्री अवनीश कुमार भटनागर

★ सत्यं-शिवं-सुन्दरम् ४७
—स्वामी विरजानन्द सरस्वती

एक प्रति ६ रु०, वार्षिक मूल्य ४५ रु० ।

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों ता प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष २४ | अङ्क ८ | नवम्बर १९९१

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विभरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्राभ्यर्थात् बहुविधं योगशास्त्रोपदेशात्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग:' ॥

—: शुचिसद्मने नमः :—

यदोपरामो मनसो नामरूप-
रूपस्य दृष्टस्मृति सम्प्रमोषात् ।
य ईयते केवलया स्वसंस्थया
हंसाय तस्मै शुचिसद्मने नमः ॥

अर्थात्

जब समाधिकाल में प्रमाण, विकल्प और विपर्यय रूप त्रिविध ज्ञान और स्मरण शक्ति का लोप हो जाने से इस नाम रूपात्मक जगत का निरूपण करने वाला मन उपरत हो जाता है, उस समय बिना मन के भी केवल सच्चिदानन्दमयी अपनी स्वरूप स्थिति के द्वारा आप प्रकाशित होते रहते हैं। प्रभो ! आप शुद्ध हैं और शुद्ध हृदय मन्दिर ही आपका निवास स्थान है। आपको मेरा नमस्कार है।

विशेष लेख :-

ब्रह्मलीन योग-योगेश्वर
अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी
महाराज

हेय एवं हेय हेतु

संसार में छोड़ने लायक वस्तु क्या है ? इस बात का हर व्यक्ति को ज्ञान नहीं हो पाता । जिस समय कोई भी व्यक्ति दुःख-द्वन्द्व से घिर जाता है तो वह अपने मुख से स्वयं ही कहने लगता है कि परमात्मा मेरा इससे पीछा छुड़ाये । किन्तु उसको इस बात का ज्ञान नहीं होता कि वस्तुतः दुःख-द्वन्द्व क्या वस्तु है, और इसकी उत्पत्ति कहाँ से हुआ करती है ? श्री भगवान पतञ्जलि ने दुःखों का आधार पाँच क्लेशों को माना है। इनमें से अविद्या नाम का पहला क्लेश, अस्मिता-नाम का दूसरा क्लेश, राग नाम का तीसरा क्लेश, द्वेष नाम का चौथा क्लेश और 'अभिनिवेश' नामक पाँचवा क्लेश कहा गया है। वस्तुतः विचार कर देखा जाय तो ये पाँचों क्लेश ही दुःख-द्वन्द्व के आधार हैं। इन पाँचों क्लेशों का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान पतञ्जलिदेव ने इनका स्वरूप इस प्रकार से बतलाया है। इनमें सबसे पहले अविद्या नाम का क्लेश है। अविद्या का लक्षण भगवान पतञ्जलिदेव ने इस प्रकार से किया है—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या

अर्थात, अनित्य वस्तुओं में नित्यानुभूति पहली अविद्या और अपवित्रों में पवित्रानुभूति दूसरी अविद्या, दुःखों में सुख की सुखानुभूति तीसरी अविद्या और इसी प्रकार से अनात्म वस्तुओं को आत्मा समझना अविद्या का चौथा स्वरूप है। भगवान ने यों चार प्रकार के स्वरूप अविद्या के बतलाये हैं। इन स्वरूपों के स्पष्टीकरण के लिए इस सूत्र पर भगवान व्यास का भाष्य इस प्रकार है—

'अनित्य वस्तुओं से नित्य की भावना पहली अविद्या कहलाती है। जैसे पृथ्वी निश्चित है, चन्द्रमा तारे और देवता ये सब रहने वाले हैं। किन्तु वस्तुतः ये सभी वस्तुएं अनित्य एवं न रहने वाली हैं और इसी प्रकार से अपवित्र वस्तुओं को पवित्र समझना दूसरी अविद्या है। जैसे परम घृणित काया को पवित्र समझना। कहा भी गया है—स्थान से, बीज से, मल-मूत्रादि के स्थानों से, मनुष्य का शरीर अत्यन्त अपवित्र है, किन्तु देखने में आता है मनुष्य अपने मन से इसको अत्यन्त पवित्र समझता है।

एक मनुष्य यदि किसी नवयुवती को देखता है तो वह अपनी भावना से विचार करता है, यह कितनी सुन्दर है। मालूम पड़ता है, चन्द्रमा को तोड़कर निकाली गई है। उस के शरीर में एवं अंग-अंग में सौन्दर्य की कल्पना करता है, किन्तु ऊपर लिखे अनुसार शरीर अत्यन्त ही घृणित है। इसी प्रकार दुःखों को मनुष्य सुख समझता है। दुःख इतने अधिक है कि उनका व्याख्यान भी नहीं किया जा सकता। परिणाम ताप, संस्कार एवं त्रिविध दुःख और गुण-वृत्ति-विरोध से विवेकी व्यक्तिके लिए सब कुछ दुःख ही दुःख है, किन्तु इन दुःखों को भी मनुष्य सुख समझता है। इसी प्रकार से व्यक्त या अव्यक्त रूप से विशेष प्रकार के सात्त्वोत्कर्षों को अपनी आत्मा समझ बैठता है, इसी अविद्या के कारण। यही अविद्या वस्तुतः क्लेशों की आधार है।

इसके बाद अस्मितानाम का दूसरा क्लेश यहाँ कहा है। भगवान पतंजलिदेव ने—

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता।

यह सूत्र कह करके दृग-शक्ति और दर्शन शक्ति की एकरूपता को अस्मिता नाम का क्लेश कहा है। दृग-शक्ति और दर्शन-शक्ति बुद्धि कहलाती है। इन दोनों को मिला करके एकरूपता बनी हुई है। इसी को जड़ और चेतनकी गाँठ भी कहा जाता है, यह अस्मिता नाम का दूसरा क्लेश है। राग नाम का तीसरा क्लेश है—'सुखानुशयी रागः' कह करके राग नाम के क्लेश को समझाया है अर्थात् मनुष्य का मन जिन वस्तुओं में लग करके सुख का अनुभव करे वही राग नाम का क्लेश है एवं इसी प्रकार से जिन वस्तुओं में लग करके मनुष्य का मन दुःख का अनुभव करे वह दुःखानुशयी द्वेष है। यह अविद्या का चौथा भाग है। इसके बाद अभिनिवेश नाम का पाँचवा क्लेश है, जिसको मौत का भय कहा जाता है। भगवान पतञ्जलिदेव ने अभिनिवेश नाम के क्लेश को इस प्रकार बतलाया है—

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः।

सभी प्राणियों के मन में यह आशा बनी रहती है कि मेरे लिए ऐसा न हो कि मैं मर जाऊँ। जिसने मरण धर्म का अनुभव नहीं किया है उसके मनमें यह धारणा आ ही नहीं सकती। यह मरण भय विद्वान से लेकर मूर्खों तक में बराबर बना रहता है। इसीलिए विद्वान से लेकर मूर्ख में समभाव से रहने वाला यह पाँचवा क्लेश है। क्लेशशब्द का अर्थ ही दुःख है। संसार में जन्म लेने वाला हर प्राणी दुःखत्रास को हटाने के लिए प्रयत्नशील रहा करता है और उन्हीं सभी दुःखों की कारणभूता अविद्या है। एवं अविद्याजनित चार प्रकार के क्लेश होते हैं। इस प्रकार यह पाँच क्लेश अनेक रूप धारण करके मनुष्य के दुःखों का विस्तार करते रहते हैं। योगदर्शन में जहाँ संस्कारों के साक्षात्कार करने से पूर्व जाति-ज्ञान का प्रकरण आता है, वहाँ इन्हें हेय कहा गया है।

© मुक्ति प्राप्त करने के लिए सदाचारी को समयानुसार भ्रमण करना तथा परम्परागत नियमों का पालन करना विशेष रूप से आवश्यक है।

सम्पादकीय—

आ रे मेरे मोहना !

'पलक मूंदि तोहि लेहुँ'

अपने आराध्य की उपासना में जब किसी आराधक का चित्त सर्वात्मभावेन संलग्न हो जाता है, अथवा अपने इष्ट के प्रति तदानुरूप होकर जब कोई साधक, उसके रंग में रंग जाता है, तब उस आराधक अथवा अनुरागी साधक की 'जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है' जैसी स्थिति हो जाती है। दुनिया की हर वस्तु में उसे उसका ही रंग और उसकी ही खुशबू महसूस होने लगती है। भक्त मीरा के शब्दों में उसकी हृदय-तन्त्री के तारों से यह झनकार निकलने लगती है—'मैं तो गिरधर को रंगरंगानी रे।' भक्त मणिमाला के सुमेरु सन्त सूरदास के समान 'जित देखूं तित श्याम मयी है' जैसी उसकी दृष्टि हो जाती है। और गोस्वामी तुलसीदास के समान उसे यह भी अनुभव होने लगता है कि—

हम चाकर रघुवीर के, पटो लिखो दरबार।
अब 'तुलसी' का होंयगे, नर के मनसबदार॥

या फिर सन्त कबीर के समान एक क्षण के लिए भी अपने आराध्य से विमुख होकर वह फूट-फूटकर रोने लगता है और दूसरों से भी कहने लगता है—

कबिरा हँसना बन्द करि, रोने से कर प्रीत।
बिन रोये कब पाइये, प्रेम पियारा मीत॥

× × ×

कविवर रहीम से पूछा किसी ने कैसी है तुम्हारे आराध्य की रूप-माधुरी? क्या उत्तर दूँ इस प्रश्न का, उनकी समझ में कुछ आया ही नहीं। संकेत से उन्होंने तुलसीदासजी की ही उस उक्ति का सहारा लिया, जिसे उन्होंने जगज्जननी सीताजी की रूप-माधुरी के विषय में कहा था। वे बोले—

गिरा अनयन नयन बिनु बानी। सीय रूप किमि कहौं बखानी॥

प्रश्नकर्त्ता ने इतने पर भी अपना आग्रह जारी रक्खा। रहीम ने सहजभाव से फिर भी यही कहा कि मैं यह कैसे बताऊँ तुम्हें, वह तो अगम्य-सा है—

रहिमन बात अगम्य की, कहन-सुनन की नाहिं।
जे जानत ते कहत नहिं, कहत ते जानत नाहिं॥

अपने इष्ट की प्रेमानुभूति के बारे में जब कविवर रसखान से पूछा गया तो उनका स्पष्ट सा उत्तर था—

या लकुटी अरु कामरिया पर, राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।

रसखान की, अपने आराध्य के चरणों में इससे बड़ी न्यौछावर और क्या हो सकती थी ? आप आगे आइए ब्रजकेनन्द गाँव और बरसाने की उस डगर पर जिस पर कुछ ब्रजबालायें चली जा रही हैं अपना दही और गोरस बेचने। गलियारों में वे आवाज लगा रही थी दही लो री दही। सहसा ध्यान आ लगा उनका भगवान श्यामसुन्दर के चरणों में। तन्मयता में इतनी डूब गयीं कि हृदय-देश में जागी उनकी ध्यान भावना ओठों पर मुखर हो उठी, मध्यमा वाणी ने बैखरी का रूप ले लिया—दही लो री दही की जगह सुनाई पड़ने लगा लोगों को—

'लैलेउ री कोई श्याम-सलोन। ।"

किसी ने टोका—क्या बेच रही है पगली ? दही या श्याम सलोना ? ब्रजबाला सचेत हुई—बोली अरी भट्ट दही की जगह श्याम-सलोने का नाम जो मेरे मन में भरा हुआ था सहसा होठों पर आगया। किसी और ने कहा सहसा नहीं—आराध्य या इष्ट के ध्यान की अतिरेक अवस्था में ऐसा ही हुआ करता है।

आराध्य की जिस रूप की कल्पना मन में समा जाती है वही रूप तदाकार होकर साधक के मन-आँगन में विचरने लगता है।

मइया यशोदा के आँगन में कन्हैया की बाल-क्रीड़ायें इतनी अलौकिक और अद्भुत हुआ करती थी कि जिन्हें देख और विचारकर कुछ और न कह कर उसे मौन ही रह जाना पड़ता था। केवल वह यही गुनगुनाने लगती थी :

आ रे मेरे मोहना ! पलक मूँदि तोहि लेहुँ।
ना मैं देखूं और कूं, ना तोहि देखन देहुँ ॥

माता के हृदय के वात्सल्य भरा यह ध्यानातिरेक ही कहा जा सकता है। माता यशोदा की वात्सल्य भावना से ओत-प्रोत यह, अनन्य से ध्यान-गीत का अन्तरा ही ब्रजमण्डल की समस्त ब्रजबालाओं का ध्यान-गीत बनकर सर्वत्र गूंजने लगा था। उसीका परिणाम रहा दही बेचने वाली गोपिकाओं के मुँह से निकला वाक्य, 'लै लेउ री कोई श्याम-सलोना।' इसके साथ ही जहाँ भी उन्हें अपना मनमोहन मिल जाता या जिस दिशा में, जिस वस्तु में भी उसके रूप की झाँकी उन्हें होने लगती थी, समवेत स्वर में वे गाने लगती थीं—

आ रे मेरे मोहना ! पलक मूँदि तोहि लेहुँ।
ना मैं देखूं और कूं, ना तोहि देखन देहुँ ॥

माता यशोदा की हृदय भूमि से उपजा यह गीत ब्रजमण्डल का सामूहिक गीत बन गया था। और इसके बाद यही गीत भू-मण्डल का गीत बनकर सब ओर बिखर गया जिसने भी इसे गाया कृतार्थ हो गया।

× × ×

अबसे आठ दशक पूर्व यही गीत गाँव अलूपुर, जिला करनाल में एक प्रसूता माता ने प्रसव-शय्या पर पड़े-पड़े गुनगुनाया तब, जब उसे किसी ने धीरे से बताया कि एक बालायोगी जैसे बालक को जन्म दिया है तूने अभी-अभी। माता बोल तो नहीं पा रही थी लेकिन मन ही मन वह रह रहकर गुनगुनाने लगी इसी गीत के अन्तरा को—

आ रे मेरे मोहना ! आँखि मूंदि तोहि लेहूँ ।
ना मैं देखूं और कूं, ना तोहि देखन देहूँ ॥

अलूपुर में जन्मा यही बालयोगी आगे चलकर सवाई के विश्व-विश्रुत सिद्ध योगी के रूप में चर्चित होगा, यह उस दिन किसी को भी मालूम न था।

अपने पूर्व संस्कारों के फलस्वरूप अलूपुर का यही बालायोगी कालान्तर में लाहौर के संस्कृत-विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने जा पहुँचा, इसी अवधि में पूर्व संस्कारों के फलस्वरूप योगी का मिलन हो जाता है अपने समय के योगावतार महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज से। उनके चरणों में रहने और उनके प्रियतम शिष्य होने के सौभाग्य का लाभ लेकर उन्हीं की आज्ञा से अपने जीवन के उत्तरार्ध के प्रारम्भ में यह सवाई आ पहुँचे। आगे चलकर यह यहां योगयोगेश्वर चन्द्रमोहन महाराज के नाम से प्रख्यात हुए। महाप्रभु के आदेश से, उनके अणिमा सिद्धि द्वारा हिमालय प्रस्थान कर जाने के उपरान्त तो अपना कार्य क्षेत्र ही बना लिया इन्होंने उनके लीलाधाम सवाई को। यह बताने की आवश्यकता नहीं है, सभी जानते हैं कि अपनी अनवरत तपः साधना से—सवाई आश्रम को एक सुविख्यात सिद्ध योग प्रशिक्षण केन्द्र के रूप में आपने ला खड़ा किया। न केवल उत्तर भारत में अपितु दक्षिण भारत बंगाल, पंजाब आदि सुदूर प्रान्तों में योग-सिद्धान्तों का जितना सार्थक प्रचार सवाई के योग प्रशिक्षण द्वारा हुआ उतना किसी अन्य योग प्रचारक संस्थान द्वारा हमें देखने को नहीं मिला। अपनी गुरुनिष्ठा का सहारा लेकर ही इन्होंने योग-सिद्धान्तों को भारत से लेकर विदेशों तक पहुँचा दिया। उनकी कृपा और करुणा पाकर जिन्होंने अपने जीवन को कृतार्थ किया है उनकी संख्या लाखों में ही आँकी जाती है। श्री महाप्रभु रामलाल जी की अनुपम धरोहर या थाती के रूप में ही चिरकाल तक इनकी स्मृति बनी रहेगी। तथा स्वर्णिम रेखा-सी यह सदा ही जगमगाती रहेगी। उनके अनगिन शिष्य एवं अनुयायी भाव-विभोर और ध्यान मग्न होकर गाते रहेंगे अपने आराध्य की स्तुति में यह गीत—

आ रे मेरे मोहना ! पलक मूंदि तोहि लेहूँ ।
ना देखूं मैं और कूं, और न देखन देहूँ ॥ —सम्पादक

रमता जोगी—बहता पानी

> रमता जोगी, बहता पानी, दोनों की उद्घोषित वानी—
> 'चलते से जो रुक जाता है, कीचड़ बन जाता वह पानी ।।' —दिव्य

मैं मिलूंगा अवश्य–निराश होने की आवश्यता नहीं

—सवाई वाले सिद्ध बाबा

स्वप्न में उपरोक्त शीर्षक वाली एक काली-सी लम्बी काष्ठ-पट्टिका मेरे सामने आई। बड़े ही स्पष्ट सुन्दर, सुडौल अक्षरों में नीचे की दूसरी पंक्ति में एक किनारे पर ऊपर शीर्षक वाली पंक्ति के नीचे कुछ छोटे आकार के अक्षरों में लिखा हुआ था, 'सवाई वाले सिद्ध बाबा'।

कुछ देर तक अपलक दृष्टि से मैं इसे देखता रहा। बार-बार पढ़ता और विचारता रहा। इसी बीच पट्टिका और उस पर अङ्कित दोनों पंक्तियाँ अर्थात् सारा दृश्य आँखों से ओझल हो गया। मुझे कुछ हैरानी और बेचैनी-सी अनुभव होने लगी। स्वप्नमय निद्रा भङ्ग हो गई। आँखें मलता हुआ मैं उठकर बैठ गया। सोचने लगा कि क्या सचमुच सवाई के सिद्ध बाबा यह आश्वासन दे रहे हैं अपने वियोग-व्यथित शिष्यों को कि 'मैं मिलूंगा अवश्य—निराश होने की आवश्यकता नहीं।

एक बार नहीं अनेक बार यह आश्वासन और भरोसा भरे हुए शब्द मेरे कानों में गूंजने लगे। एक दिशा से नहीं किन्तु चारों दिशाओं से यही वाक्य और यही शब्द सुनने में आ रहे थे—मैं मिलूंगा अवश्य—निराश होने की आवश्यकता नहीं!

× × ×

'मेरी व्यग्रता और उत्सुकता दोनों बढ़ती ही गयीं।' कब गुरुदेव आवेंगे, कब उनका साक्षात्कार होगा। वह प्रतीक्षा की घड़ियाँ कब आयेंगी?

'उन अगोचर को गोचर होने का सौभाग्य—न केवल मुझे बल्कि मेरे जैसे अनेक शिष्यों को कब मिलेगा यही उधेड़ बुन मेरे चित्त को व्याकुल बना रही थी। इस व्याकुलता को दूर करने के लिए मैंने अपना एक अभ्यस्त उपाय यह किया कि बत्ती जलाकर अपने अध्ययन कक्ष में जा पहुँचा और उठाकर पढ़ने लगा किसी एक सद्ग्रन्थ को। जो सद्ग्रन्थ मेरे हाथ में आया वह था श्रीमद्भागवत् का द्वितीय खण्ड।

यह भी मेरा अपना एक नियम रहा है कि किसी भी सद्ग्रन्थ के खोलने पर जो पृष्ठ और प्रसंग सामने आ जाय वहीं से पढ़ना और समझना आरम्भ कर देना चाहिए। गुरुद्वारों में गुरुग्रन्थ साहब के पाठ का भी सम्भवतः यही नियम है, ऐसा मैंने कभी कहीं पढ़ा था।

जो प्रसंग और पृष्ठ श्रीमद्भागवत् के द्वितीय खण्ड को खोलने पर सामने आया वह था दशम स्कन्ध के अध्याय ४७ का उद्धव-गोपी सम्वाद, जिसे उद्धव ने श्रीकृष्ण के सन्देश वाहक के रूप में नन्द गाँव में जाकर ब्रज की अनन्य प्रेम-विह्वल गोपिकाओं को दिया था। उद्धव द्वारा गोपियों से भगवान ने कहलाया था, तुम धीरज रक्खो। मैं और मेरा कलेवर तुम सबके साक्षात्कार से दूर है। तुम्हारी सबकी दृष्टि सीमा से अलग है। इसमें भी

सन्देह नहीं कि मैं तुम्हारे नयनों का ध्रुवतारा हूँ। तुम्हारा जीवन सर्वस्व हूँ किन्तु मैं जो तुमसे दूर रहता हूँ उसका कारण है और वह यही कि तुम निरन्तर मेरा ध्यान कर सको। शरीर से दूर रहने पर भी मन से मेरी संनिधि का अनुभव तुम करो, अपना मन मेरे पास रख सको। क्योंकि अनन्य प्रेमियों का मन अपने परदेशी प्रियतम में जितना निश्चल भाव से लगा रहता है उतना आँखों के सामने, पास रहने वाले प्रियतम या आराध्य में नहीं लगता :

यथा दूरचरे प्रेष्ठे, मन आविश्य वर्तते।
स्त्रीणां च न तथा चेतः संनिकृष्टेऽक्षिगोचरे॥

—भागवत स्कन्ध १० अ० ४७-३५

ब्रज गोपियों को भगवान श्रीकृष्ण का यही सन्देश है तथा उन्होंने यह भी कहा है कि

मय्यावेश्य मनः कृत्स्नंविमुक्ताशेषवृत्ति यत्।
अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ॥

—भागवत स्कन्ध १० अ० ४७/३६

'अर्थात् सारी वृत्तियों से रहित सम्पूर्ण मन मुझ में लगाकर जब तुम मेरा अनुसरण करोगी तब शीघ्र ही सदा सर्वदा के लिए मुझे प्राप्त हो जाओगी।

'और सुनो ब्रज बालाओ! भगवान ने यह भी स्मरण कराया है कि जिस समय वृन्दावन में मैंने शरद पूर्णिमा की रात्रि में रास क्रीड़ा की थी उस समय जो गोपियाँ स्वजनों के रोक लेने से ब्रज में ही रह गयी थीं यानी जो रास-क्रीड़ा में सम्मिलित नहीं हो सकी वे मेरी क्रीडाओं का स्मरण करने से ही मुझे प्राप्त हो गयी थीं। तुम्हें भी मैं मिलूँगा अवश्य निराश होने की कोई बात नहीं है। तुम मेरा स्मरण और ध्यान करते रहो।

मैं विचारने लगा भगवान श्रीकृष्ण का उद्धव द्वारा गोपियों को दिये सन्देश का यह तत्व ही तो मुझे स्वप्न पट्टिका से भासित नहीं हो रहा है। सिद्ध सवाई वाले बाबा का नामाङ्कन यही बता रहा था कि वे हमारे आपके आराध्य परम पूज्य श्री गुरुदेव चन्द्रमोहनजी महाराज अपने विशाल शिष्य-समूह को यही बता रहे हैं कि मेरे प्यारे बच्चो चिन्ता मत करो। भले ही तुम मुझे पार्थिव रूप में देख नहीं पा रहे हो। तुमसे मैं इतनी दूर हूँ कि मंजिल दर मंजिल चलने के बाद भी तुम मेरे पास पहुँच नहीं सकोगे। मेरे और अपने बीच की इस अतिशय लम्बी दूरी को तुम केवल अपने मन को मुझमें संलग्न और समाहित करके सुगमता से तय कर डालोगे। योगिराज श्रीकृष्ण ने गोपियों को अपने अनन्य चिन्तन और ध्यान द्वारा पा लेने का, अपने अगोचर प्रियतम को दृष्टिगोचर कर लेने की ध्यान मार्ग की धारणा का जो उपदेश दिया था, वही अपने को पा लेने का मार्ग मैं तुम्हें बता रहा हूँ। भगवान ने यह ठीक ही कहा है कि दूर रहने पर ही निकट सम्पर्क का लाभ मन के समर्पण और अनन्य चिन्तन के द्वारा मिल जाता है। इसीलिए उन्होंने कहा—

यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्तते।

प्रतिकूल इसके अतिनिकट का परिचय तो प्रायः अरुचि और अनादर का कारण बन जाया करता है। जैसा एक हिन्दी कवि का कथन है—

अति परिचय से होत है, अरुचि अनादर भाय।
मलयागिरि की भीलनी, चन्दन देति जराय॥ —योगी रमतराम

—: विजय पर्व :—

जन्म दिवस गुरुदेव आपका, विजय पर्व ले आया,
इसीलिए तो विहँस धरा ने, गीत विजय का गाया ।
ऊषा ने मन मोद मनाकर, कुंकुम तिलक लगाया,
जननी ने दे जन्म तुम्हें, जीवन का शुचि फल पाया ।।१

रवि ने पाई रश्मि, चन्द्र ने पाई अपनी छाया,
मिला पिता को पूत, जगत को 'मनमोहन' मन भाया ।
ज्ञान और वैराग्य मिल गया, मही में रुद्र देव को,
मिली राम को निज मर्यादा, करुणा बुद्ध देव को ।।२

कर्मयोग निष्काम-कृष्ण ने, तुम में आकर झाँका,
देव पतञ्जलि ने व्याख्याता, अपने कुल का आँका ।
मधुपति ने मधुमय रस घोला, नवोजात प्राणी में,
मिली सरलता और सौम्यता, कल्याणी वाणी में ।।३

भोग और ऐश्वर्य भागकर, तुमसे बने वियोगी,
'सिद्धयोग' बन गया तुम्हारे, जीवन का संयोगी ।
त्याग तपस्या ही जीवन का, तुमने लक्ष्य बनाया,
सिद्धेश्वर प्रभु रामलाल का, पथ तुमने अपनाया ।।४

तुमने ही गुरुदेव ज्ञान का, दीपक यहाँ जलाया,
'योग-मार्ग ही मुक्ति मार्ग है' तुमने यह बतलाया ।
तुमने अपने शक्ति-कोष से, भरदी उसकी झोली,
श्रद्धा भरे हृदय से जिसने, कुटी तुम्हारी खोली ।।५

तुमने ही निज लीलाधर का, लीला-धाम सम्हाला,
उनके बोये योग बीज को, तुमने पोषा पाला ।
तुमने ही गुरुदेव हमें, ज्ञानामृत यहाँ पिलाया,
तुमने ही उस परम पुरुष से, हमको यहाँ मिलाया ।।६

* जो वाणी से अनबोला है, नयनों से अपदेखा,
और न जहाँ पहुँच पाई है, अभी बुद्धि की रेखा।
कौन तुम्हारे ऐसे ऋण से, उऋण हो पाया है,
गुरुवर अपरम्पार तुम्हारी, महिमा अरु माया है ॥७

* साधक कोई भटक न जाये, इस तमसावृत जग में,
इसीलिए तो ज्योति जलाकर, बैठे हो तुम मग में।
जब-जब जन्म दिवस की, पावन बेला गुज़र आती,
तब-तब जीवन के कोषों में, नई शक्ति भर जाती ॥८

* सूर्य रश्मियाँ लेकर आतीं, इस दिन नया सवेरा,
जगमग होता उर का आँगन, मिटता घोर अंधेरा।
एक नया आनन्द नया रस, जीवन में तब आता,
जब गुरुदेव तुम्हारे चरणों में मन मेरा जाता ॥९

* मंजुल मोहन मूर्ति माधुरी, नयनों में आती है,
तदाकार ही चित्त-वृत्ति, तब सबकी हो जाती है।
पाकर तुमको और न कुछ भी, पाने को रह जाता,
जन्म दिवस गुरुदेव आपका, यही बताने आता ॥१०

—: उपांशु जप :—

विश्वामित्रजी ने लिखा है कि—जीभ और ओठों को हिलाता हुआ धीरे-धीरे मन्त्र का जप इस प्रकार करना चाहिए कि दूसरा कोई कुछ भी न सुन सके, इसी का नाम उपांशु जप है।

जिसे पार्श्ववर्ती जन सुन पायें ऐसे जप की अपेक्षा हजार गुना अधिक फल देने वाला 'उपांशु' जप होता है और उपांशु से हजार गुना अधिक फल 'मानस' जप द्वारा होता है। और मानस जपसे भी हजार गुना अधिक फल 'ध्यान' से प्राप्त होता है। आशय यह कि जितनी मात्रा में चित्तवृत्तियां तदाकार होती हैं उतनी ही मात्रा में फल भी प्राप्त होता है। उपांशु जप की अपेक्षा मानस जप में चित्त की वृत्तियों का अधिक संकोच होता है। इसीसे अधिक फल भी होता है। ऐसे ही मानस जप की अपेक्षा ध्यान में तदाकारता की मात्रा अधिक रहती है इस लिये ध्यान में अधिक फल मिलता है।

परम पावन सद्गुरुदेवजी के जन्म-दिन पर भाव-प्रसून

● ब्र० श्री रामलाल शर्मा

विजयदशमी का पर्व राष्ट्रीय पर्व तो है ही किन्तु सद्गुरुदेव परम पावन योगिराज श्री चन्द्रमोहनजी महाराज के आत्मतेजोमय हम सभी गुरु भाई-बहिनों के लिए यह दिन बहुत ही पावन एवं महत्त्वपूर्ण पर्व है। गुरुदेव जी का यह ८२वां जन्म-दिन है। इसी दिन सद्गुरुजी ने इस अवनि मण्डल पर अवतरित होकर संसार को पावन किया था। वे एक सच्चे सद्गुरुदेव थे। उपनिषदों में मुमुक्षु के लिए आदेश है—'तद् विज्ञानार्थं स गच्छेद् गुरु समित्पाणिः श्रोत्रियम् ब्रह्मनिष्ठम्' अर्थात् आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए साधक हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रीय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुदेव के पास जाये। श्रोत्रीय से तात्पर्य है कि जो वेद-वेदांगों का ज्ञाता हो तथा ब्रह्मनिष्ठ से तात्पर्य है कि वह तत्वज्ञानी अर्थात् आत्मवित् हो। योग की भाषा में कह सकते हैं कि वह समाधि सिद्ध योगिराज हो। अपने सद्गुरुदेवजी में ये दोनों ही लक्षण विद्यमान थे। वे योगशास्त्रों के पूर्ण ज्ञाता तो थे ही किन्तु ब्रह्मनिष्ठ व समाधि सिद्ध योगी भी थे। योगशास्त्रों पर व्याख्यान करने वाले तो दुनिया में बहुत मिलेंगे किन्तु उन सिद्धान्तों का साक्षात्कार भी किया हो ऐसे व्यक्ति बहुत ही विरले होते हैं। इसी प्रकार अनुभवी व तत्वज्ञ योगी भी गिरि-कन्दराओं में या अन्यत्र विद्यमान हैं किन्तु वे योग-सिद्धान्तों को योग-साधकों को या तो समझा नहीं पाते हैं अथवा उनकी प्रवृत्ति इस ओर नहीं होती।

महाप्रभु श्री रामलालजी महाराज ने योग विद्या के प्रचार-प्रसार के लिए जिन सिद्धान्तों का सूत्रपात किया था उसीको विस्तृत और यथार्थ स्वरूप श्री गुरुदेवजी ने दिया। अपने गुरुदेव महाप्रभु रामलालजी की कृपा एवं अपनी साधना से उन्होंने योग की परमावस्था को बाल्यकाल में ही प्राप्त कर लिया था। योग के उन्हीं गुह्य एवं दुर्बोध्य सिद्धान्तों को उन्होंने बहुत ही सरल एवं सरस ढंग से योग-जिज्ञासुओं को समझाया। इन सिद्धान्तों को समझाते हुए वे साक्षात् स्वयं पतञ्जलिजी ही लगते थे। अपने गुरुदेव की आज्ञा पाकर निवृत्ति मार्ग को छोड़कर उन्होंने योग-प्रचार के इस महाभियान के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया। अपने जीवन के लगभग साठ वर्ष उन्होंने इसी कार्य में बिताये। शहर-शहर एवं गाँव-गाँव जाकर उन्होंने योगविद्या के अमर सन्देश को जन-जन तक पहुँचाया। आज उन चरणकमलों से सिद्धयोग की दीक्षा एवं मार्ग-दर्शन प्राप्त लाखों योग साधक योगारूढ़ होकर निःश्रेयस व कैवल्य की ओर अग्रसर हैं।

सर्व शक्तिमान ईश्वर की प्रतिज्ञा है कि कल्प के अन्तमें सभी जीवों का उद्धार करूंगा इसी प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए वे बार-बार

गुरुरूप में अवतरित होकर अपने भक्तों को योग का उपदेश करते हैं। यही अपने सद्गुरुदेवजी का भी अनुग्रह स्वरूप है। वे एक सच्चे सद्गुरुदेव व एक सच्चे शिष्य थे। शास्त्रों में गुरुदेव के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा गया है—

आचार्यो वेद सम्पन्नो
विष्णु भक्तो विमत्सरः।
योगज्ञो योग निष्ठश्च
सदा योगात्मको शुचिः॥
गुरु भक्तिः समायुक्तः
पुरुषज्ञो विशेषतः।
एवं लक्षण सम्पन्नो
गुरुरित्यभिधीयते॥
(अद्वयतारकोपनिषद्)

अर्थात् जो स्वयं आचार्य हो, वेदज्ञानयुक्त हो, विष्णु भक्त हो, रागद्वेषादि से रहित हो योग को जानने वाला हो तथा योगनिष्ठ हो, सदा योग (समाधि) में स्थित रहने वाला हो तथा बाहर-भीतर से पवित्र हो, गुरुभक्ति से युक्त हो, आत्म-ज्ञानवान हो। ऐसे लक्षणों से युक्त पुरुष को गुरुदेव कहा जाता है। अपने सद्गुरुदेव में उपरोक्त सभी लक्षण विद्यमान थे। वह एक सच्चे शिष्य थे। उनके मन में अपने गुरुदेव महाप्रभु रामलालजी के प्रति जो निष्ठा थी उसका दृष्टान्त अन्यत्र मिलना मुश्किल है। गुरुभक्ति से उनका जीवन परिपूर्ण था रोम-रोम में गुरुभक्ति झलकती थी।

जो गुरुतत्व के उपासक हैं उनके लिए 'नास्ति गुरोः परम तत्वम्' का सिद्धान्त रहता है। उनको इस श्रुति वचन को सदा स्मरण रखना चाहिए—

वेदशास्त्राणि मान्यानि
पाद पांसुमिव त्यजेत्।
गुरुभक्ति सदा कुर्यात्
श्रेयसे भूयसे नरः।
गुरुदेव हरिः साक्षात्
नान्यइत्यब्रवीच्छ्रुतिः॥

इस प्रकार से श्रुति में गुरुतत्व की महत्ता बतलाई गई है। गुरु ही साक्षात् हरि हैं। श्रीमद्भागवत् पुराण में भगवान स्वयं ने 'आचार्यं मां विजानीयात्' तथा 'सर्व देवमयो गुरुः' कहकर गुरुदेव के अलौकिक स्वरूप को बतलाया है। गुरुतत्व के उपासकों के मन में 'सर्वं गुरुमयं जगत्' का सिद्धान्त रहता है। संसार के हर चराचर वस्तु में गुरुदेव ओत-प्रोत हैं। गुरुमन्त्र के रूप में गुरुदेव अपने शिष्य के भीतर विराजमान रहते हैं।

अपने गुरुदेवजी लब्ध-प्रतिष्ठ अन्तर्राष्ट्रीय योगियों में से थे। योग-जगत् में उनको कौन नहीं जानता? अनेक बार विश्व योग सम्मेलनों एवं अखिल भारतीय योग सम्मेलनों में उन्होंने अध्यक्ष पद को सुशोभित किया। सन् १९८८ में हुए दिल्ली के विश्व योग-सम्मेलन के वे अध्यक्ष थे तथा तत्कालीन राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने उन्हें योग-शिरोमणि की उपाधि प्रदान की थी। सिद्धयोग के शक्तिपाताचार्य के रूप में उनको योग जगत के सिद्ध एवं साधक भलीभाँति जानते हैं।

यद्यपि उनका भौतिक रूप अदृश्य है तथापि वे अपने संस्कारी बच्चों पर कृपा करते ही रहते हैं। स्थूल दर्शन न पाकर मन यद्यपि अधीर एवं निराश हो उठता है तथापि उनके अलौकिक स्वरूप को स्मरण कर मन उत्साहयुक्त हो जाता है। गुरुदेवजी कण-कण में विद्यमान हैं। 'बहिरन्तश्च भूतानाम्' के सिद्धान्तानुसार सब भूत प्राणियों के भीतर बाहर विराजमान हैं। उनके वात्सल्यमय स्वरूप का वर्णन करना कठिन है उनके जन्म-दिवस पर हमारा उनके चरण-कमलों को बारम्बार प्रणाम है।

● आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा
एम.ए. एम.एड.

—: योगी की रहनि :—

योग-विद्या यद्यपि सार्वभौम विद्या है, तथापि यह इतनी सरल नहीं है कि हर आम आदमी इसमें सफलता प्राप्त कर सके। अधिकांश व्यक्ति—'देखा देखी साधै योग। छीजै काया बाढ़ै रोग॥' की स्थिति ही प्राप्त कर पाते हैं। करुणानिधान श्री गुरुदेव के चरणों में योग से रोग-ग्रस्त नाना प्रकार के साधक आते रहते हैं। कानपुर योग-प्रचार कार्यक्रम के प्राणायाम तथा हठयोग की क्रियाओं के लिए अपेक्षित आहार-विहार के नियमों के पालन में प्रमाद करने के कारण बधिरता, श्वास-कष्ट आदि-आदि विकारों से ग्रस्त ऐसे अनेक साधक आये थे, जिन्हें श्री गुरुदेव जी ने केवल अपनी करुणा-कृपा के प्रसाद से स्वस्थ कर दिया था। वस्तुतः योग में आपरेशन से भी अधिक सावधानी की आवश्यकता रहती है। जैसे आपरेशन के समय थोड़ी भी असावधानी हो जाय तो जीवन से हाथ धोने पड़ सकते हैं, उसी प्रकार योग-साधक की जीवनचर्या एकदम सन्तुलित तथा 'युक्ताहार-विहार' युक्त चेष्टा तथा युक्त कर्म वाली नहीं बनी, तो योग-सुख का जनक न होकर दुःख और रोग का वर्द्धक बन जायेगा। श्रीमद्भगवद् गीता में योगयोगेश्वर श्रीकृष्ण चन्द्र ने योगी की जीवनचर्या का निरूपण इस प्रकार किया है—

युक्ताहार विहारस्य,
युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य,
योगो भवति दुःखहा॥

अर्थात् योग तभी आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक दुःखों को नष्ट करता है जब योग-साधक का आहार, विहार चेष्टायें, कर्म, सोना और जागना सभी कुछ युक्त-युक्त है। यहाँ 'युक्त' शब्द का अर्थ बहुत महत्वपूर्ण है। युक्त शब्द का सामान्य अर्थ है—जुड़ा होना, मध्य में, सन्तुलित स्थिति में स्थित। बौद्ध और जैन धर्मशास्त्र में इसके लिए मध्यम मार्ग शब्द का प्रचलन है। नाथ-सिद्धों की वाणियों में इस शब्द की व्याख्या एकदम सीधे-सीधे शब्दों में की गई है। तथा 'युक्ताहार' के सम्बन्ध में योगी जालन्धरनाथ ने कहा है—

थोड़ो खाय तो कलपै झलपै,
घणो खाइ लै रोगी।
दुहुँ पखां की संधि विचारै,
ते को विरला जोगी।

आहार के सम्बन्ध में प्रायः लोग असावधान रहते हैं। प्रत्येक वस्तु प्रत्येक व्यक्ति का आहार नहीं हो सकती। शरीर की कार्यक्षमता आयु तथा साधनों अनुसार आहार का निश्चय किया जाता है। योग-साधक को अपने मन, प्राण और बिन्दु पर नियन्त्रण प्राप्त करने पर ही अपने लक्ष्य में सफलता मिल सकती है। मन पर अन्न का सर्वाधिक प्रभाव होता है। वातवहा नाड़ियाँ भी आहार से

तत्काल प्रभावित होती हैं। उदर में समस्त नाड़ियों का केन्द्र है। यदि अन्न ठीक से पच न पाये तो आमवात विकार से समस्त नाड़ी-मण्डल दूषित हो जाता है, जिसके फलस्वरूप न ध्यान होता है न प्राणायाम। शरीर में उदर, रक्त विकार, स्नायु विकार तथा नाना प्रकार के मानसिक विक्षेप-जन्य रोग हो जाते हैं।

ऐसी स्थिति में योग की बात कहाँ सूझती है? इसलिए शास्त्रकारों ने सलाह दी है कि आधा पेट अन्न से भरो और चतुर्थांश जल से तथा चतुर्थांश वायु संचार के लिए खाली छोड़ दो। तभी वह भोजन शरीर में पहुँचकर उचित मात्रा में रस-रक्त बना सकेगा। भोजन की मात्रा के साथ-साथ उसकी गुणात्मकता का भी विचार करना चाहिए। शुद्ध, पवित्र स्निग्ध, ताजा, आयु-सत्व तथा बल को बढ़ाने वाला रुचिकर प्रेम से दिया गया, उचित आसन तथा शुद्ध स्थान पर बैठकर प्रभु को समर्पित कर प्रसाद बुद्धि से किया गया भोजन योग-साधना में शीघ्र सफलता देने वाला होता है। अधिक खट्टा, मीठा, तीखा, चटपटा तथा नमकीन भोजन योगी को विकार-युक्त बनाता है। जो लोग अण्डे, माँस मछली खाकर प्राणनिरोध करना चाहते हैं, वे बालू पर दीवाल बनाने का प्रयत्न करते हैं। प्रायः बहुत से योग-साधक भांग, चरस, गाँजा, बीड़ी सिगरेट और शराब भी पीते हैं और योगमार्ग में सफलता चाहते हैं वे भी आकाश के तारे तोड़ने जैसा ही प्रयास कर रहे हैं। जिनको जीभ हमेशा समोसे, रसगुल्ले, बर्फी और कलाकन्द तथा चटपटी चाट के स्वाद लेती रहती है वे स्वप्न में भी इन्द्रियजयी नहीं हो सकते।

रसना इन्द्रिय और प्रजनन इन्द्रिय का शरीर शास्त्र की दृष्टि से घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों का निर्माण जल-तत्व से हुआ है। एक का लक्षण दूसरे में प्रतिबिम्बित होता है। जो अपनी जिह्वा पर नियन्त्रण नहीं कर सकते, वे ब्रह्मचर्य भी पालन नहीं कर सकते। श्रीमद्भागवत में अवधूत दत्तात्रेय जी कहते हैं कि निराहार रहने से मनीषी पुरुष दूसरी इन्द्रियों पर तो शीघ्र विजय प्राप्त कर लेता है, परन्तु इससे उसकी रसना इन्द्रिय वश में नहीं होती। वह तो भोजन बन्द कर देने से और भी प्रबल हो जाती है। यदि रसनेन्द्रिय को वश में कर लिया तो मानो सभी इन्द्रियाँ वश में हो गयी।

इन्द्रियाणि जयन्त्याशु
निराहारा मनीषिणः ।
वर्जयित्वा तु रसनं
तन्निरन्नस्य वर्द्धते ॥
तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्
विजितान्येन्द्रियः पुमान् ।
न जयेद् रसनं यावज्जितं
सर्वं जिते रसे ॥

११/८-२०-२१

आजकल मोटा अन्न लुप्त-सा हो गया है, गेहूँ आदि अन्न कृत्रिम खाद का परिवर्तित रूप है। अधिक अन्न पैदा करने के चक्कर में सरकार उसके गुणों की उपेक्षा कर रही है। अन्धाधुन्ध फर्टिलाइजर डालकर भय पैदा हो रहा है। महानगरों में तो जल भी खनिज तत्वों से विहीन मिलता है तथा वायु भी प्रदूषित मिल पाती है। फल और दूध की तो बात ही अलग है। गोदुग्ध का नाम ही नाम सुनाई पड़ता है। कम्पोस्ट खाद का अन्न और शाक-पात तथा ताजे फल महानगरों के लोगों को नसीब नहीं होते। इसलिए यहाँ कृत्रिम

जीवन जीने के कारण व्यक्ति अल्प-वीर्य होते जा रहे हैं। उनसे ध्यान और प्राणायाम कहाँ होने का है। योग के नाम पर वे ढोंग भले ही फैला दें। जो जबान का कच्चा होता है वह लँगोटे का सच्चा नहीं होता और जो लँगोट का कच्चा होता है वह बिन्दु रक्षा नहीं कर सकता तथा समाधि का आनन्द नहीं ले सकता। योगी गोरखनाथ अपनी अक्खड़ भाषा में ऐसे साधकों को पापी तथा फूहड़ा कहते हैं—

ग्यान का छोटा काछ का लोहड़ा।
इन्द्री का लड़बड़ा जिह्वा का फूहड़ा।
गोरख कहे ते पातरिख चूहड़ा॥

संक्षेप में नेक कमाई का, दूध, चावल, खिचड़ी, साग-पात, फल तथा गेहूँ, चना एवं जौ का मिला-जुला भोजन, जो शुद्ध, स्निग्ध तथा ताजा हो और पवित्र स्थान पर पवित्रता से खाया जाय वह आहार युक्त होता है।

योगी गोरखनाथ पेटू साधकों को सम्बोधित कर कहते है कि पेटू लोगों! तुम लोग साधना की बात भले ही करलो, योग नहीं कर सकते। यदि तुम्हें कोई योगी गुरु मिला होता तो तुम्हारा आहार युक्त हो गया होता। 'वपुराख्याति भोजनम्' अर्थात् शरीर को देखकर भोजन का पता चल जाता है। इस नियम के अनुसार योगी गुरु मिलने पर तुम्हारा शरीर नस-नाड़ियों को पारदर्शक शीशे की भाँति दर्शाने वाला होगा।

बड़े-बड़े कूल्हे मोटे-मोटे पेट।
नहीं रे पूता गुरु से भेंट॥
खड़बड़ काया निरमल नेत।
भई रे पूता गुरु सों भेंट॥

वैसे 'युक्त' शब्द का अर्थ अधिक व्यापक तथा अन्तर्मुखी वृत्ति का वाचक है। योगयोगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता के छठे अध्याय के अठारहवें श्लोक में युक्त शब्द की सही व्याख्या की है। देखिये—

यदा विनियतं चित्त-
मात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो,
'युक्त' इत्युच्यते तदा॥
—गीता ६/१८

चित्त को बाहरी ओर से रोककर जब आत्मा के साथ लगा दिया जाता है तो स्वतः ही इन्द्रियजय एवं मन की एकाग्रता हो जाती है। सभी कामनाएँ तथा इच्छाएँ आप से आप शान्त हो जाती है। यह अवस्था युक्त अवस्था है। इस अवस्था में रहने पर आहार-विहार, चेष्टा तथा कर्म ठीक-ठीक ही होते हैं। पर यह अवस्था किसी भाग्यशाली साधक को श्रीगुरुदेव के तीव्र संवेग के शक्तिपात तथा दृढ़ इच्छा-शक्ति के नियमित अभ्यास से ही प्राप्त हो सकती है। सामान्य साधक को यम-नियमों का अभ्यास करते रहने से यह अवस्था समय आने पर गुरु-कृपा से मिल जाया करती है। उस अवस्था में योगी 'युक्ततम' कोटि पर पहुँच सकता है, जहाँ समस्त वासनायें शान्त हो जाती हैं। योगी वहाँ पूर्ण निर्विकार स्थिति में पहुँच जाता है। उस समय वह जो कुछ करता है वही शुभ होता है, जो कुछ खाता है वही अच्छा आहार होता है। यह वह अवस्था है जहाँ योगी प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण सभी प्रकार के कर्म-बन्धनों का विज्ञान जानकर कर्म-पाश को काट देता है तथा चित्त-निर्माण एवं परकाया प्रवेश आदि क्रियाओं द्वारा सर्वत्र स्वतन्त्र गमन करता है। प्रकृति पर उसका अधिकार हो जाता है। उस समय ग्रहण और त्याग दोनों ही उसके लिए समभाव हो जाते हैं। सोना,

रत्न और मिट्टी दोनों ही उसके लिए समान होते हैं—

योगेश्वर श्री गुरुदेव साधकों को उद्‌-बोधित कर प्रायः कहा करते थे कि योगसाधक को दिनचर्या नियमित और व्यस्त होनी चाहिए। खाली मन शैतान का अड्डा होता है। खाली मन में वासना-विकार आया करते हैं अतः योगी साधक को हर क्षण अपने को स्वाध्याय मन्त्र-जप, ध्यान तथा निष्काम कर्म में व्यस्त रखना चाहिए। नीतिकारों का उप-देश है कि—

बुद्धिमान पुरुष अपना समय सत्साहित्य एवं शास्त्रों के पठन-पाठन द्वारा यापन करते हैं और मूर्ख लोग ताश, सिनेमा, जुआ आदि दुर्व्यसनों में अपना खोकर या किसीसे झगड़ा-फिसाद करके। यदि वासनिक जगत की ओर खिंचता रहेगा तो 'आवृत्त-चक्षु' कैसे हो सकेगा। इसलिए योगी गोरक्षनाथ ने कहा है कि—योगी अपने मन की हर समय सम्भाल करता रहता है क्योंकि इसके द्वारा ही वह सिद्धि प्राप्त करता है।

'जोगी सो जो मन जोगवै।'

गुरु गोरक्षनाथ का योग साधकों को यही आदेश है कि उन्हें हर क्षण कार्य में व्यस्त रहना चाहिए।

जब अन्तर्जगत में ध्यान-योग के द्वारा साधक का प्रवेश हो जाता है तब बाहर के सारे पदार्थ निस्सार प्रतीत होने लगते हैं। किसीसे बात करने की इच्छा नहीं होती। किसी की बात में कोई रस नहीं आता।

सुनत न काहू की कही,
कहत न अपनी बात।
नारायण वा रूप में,
मगन रहत दिन रात॥

श्रीमद्भगवद्गीता में 'युक्तचेष्ट' होने का उपदेश है। योगी साधक की श्वास भी सन्तु-लित हो, देखना, बोलना यहाँ तक कि पैर रखना भी पूरे होश के साथ होना चाहिए। योगी के हर कार्य में सन्तुलन होता है। श्री गोरक्षनाथ योगी की चेष्टाओं को संयत करने का ही उपदेश देते हैं—

योगी गोरक्षनाथ ने अपने गुरुमत्स्येन्द्रनाथ को भी क्षमा नहीं किया। उन्होंने मछन्दर-नाथ को स्पष्ट कहा कि योगी को स्त्री का संग कदापि नहीं करना चाहिए। जैसे नदी के किनारे के वृक्ष का जीवन हर क्षण संकटमय होता है न जाने नदी कब बाढ़ से उसे नष्ट कर दे। नदी का नाम कूलंकषा है। किनारे को काटने में उसे संकोच नहीं होता। उसी प्रकार स्त्री को मर्यादा भंग करने में संकोच नहीं होता। अतः गोरक्षनाथ ने अपने गुरु को सावधान किया—

गुरु जी ऐसा करम न कीजै,
तर्यों अमी महारस जीजै।
नदी तीरे बिरखा नारी संगे पुरखा,
अलप जीवन की आसा॥

योगी को जगत में उसी तरह रहना चाहिए जिस तरह पथिक धर्मशाला में रहता है। जिस तरह पत्नी रहती है—जिमि तीटा पीहर रहै, चित्त रहै पिय माँहि।' रसखान ने 'रहनि' का सुन्दर सूत्र दिया है—

सुनिये सबकी कहिये न कछु,
रहिये इमि भव सागर में।
करिये व्रत नेम सचाई लिये,
तरिये जिहि भव सागर में।
रसखानि गोविन्दहूँ यों भजिये,
नागरि का चित्त गागरि में॥

—✱—

● श्री विष्णुप्रसाद व्यास

—: सन्त सद्गुरु :—

कितना प्यारा-प्यारा है यह शब्द—"सन्त सद्गुरु" इसका उच्चारण करते ही अशान्त जीवन को एक आधार मिल जाता है। जैसे कोई मनुष्य गहरे महासागर में गिर पड़े और उसका पांव उस अतल जलराशि में कहीं भी अटक न रहा हो—तब वह कितना व्याकुल होता है—उसके प्राण उचक-उचक कर गले की ओर आते हैं—वह चाहता है कि उस समय कोई मुझे सहारा मिल जाय और अचानक एक बहती हुई लकड़ी की तख्ती उसके हाथ आ लगे—उसे पाते ही उसमें नव-जीवन का संचार हो जाता है वही दशा इस अपार भवसागर में जिसका न कोई ओर है न छोर इस मनुष्य की हो रही है।

उसे कोई सहारा नहीं मिल पा रहा है। सबसे पहले उसको अपनी अतिप्रिय लगने वाली माता है। वह उसी को अपना सहारा समझने लगता है। अच्छा यही मान लेता है कि मेरे सुखमय जीवन का आधार यही मेरी मां है। इसी ने मुझे जन्म दिया है। इसने मुझे अपने प्राणों से बढ़कर प्यार दिया और देती रही है। पर मैं जब उसे भी अपने सुख में सुखी और दुःख में दुःखी देखकर एवं हर्ष और शोक की लहरों में उतरते देखता हूं तो मेरा मन बैठ जाता है। अरे! यह तो मां होकर भी रोती है। कोई चीज इधर से उधर हो जाय तो छटपटाने लगती है यह। कभी-कभी इतने क्रोध में आ जाती है कि अपना सारा क्रोध मुझ पर बरसा कर उतारा करती है।

परसों की ही बात है—माँ की गाय सन्ध्या होने पर भी जंगल से चरकर न आई, वह आग-बबूला होने लगी उसकी खोज करने पर भी जब दो घण्टे तक उसका पता न लगा तो आपे से बाहर हो गई। मैंने खाने को कोई वस्तु मांगी तो मुझे मिले उसके चार थप्पड़ और दो-चार गालियाँ। मैं सहम गया और एक कोने में जाकर दुबक कर बैठ गया और लगा सुबक-सुबककर रोने। चूल्हे में आग भी न जली, जब गाय रंभाती हुई कहीं से द्वार पर आई और लगी अपने बछड़े को चाटने तब जाकर मेरी माँ के होठों पर मुस्कान खेलने लगी। उसने मुझे बड़े प्यार से गोद में ले लिया—मैंने मन ही मन यह परिणाम निकाला कि यह मेरे जीवन का आधार कैसा है? कच्चा, असमर्थ और अधूरा? एक चावल को देखकर पतीली के सारे चावलों का बोध हो जाता है कि वे कैसे हैं? इसी प्रकार मैं भी भांप गया कि माता की तरह दूसरे सभी रिश्ते-नाते एकदम से कच्चे हैं। इन पर विश्वास करना अपने को धोखा देना है।

युवा हो जाने पर जब मेरा सम्पर्क एक परिपूर्ण समर्थ सन्त सद्गुरुदेव श्री से अचानक हो गया, तब मेरे हृदय को पूरा आश्वासन

मिला। रोम-रोम से मेरे कानों में यही आवाज आती कि "तूने परिपूर्ण ब्रह्म सद्गुरु देवजी का सुदृढ़, अनुपम और प्रेमभरा आधार पा लिया है। बड़ा भाग्यशाली है तू।"

बाल्यकाल में मुझे पुस्तकों के पढ़ने का बड़ा चाव था। स्वाध्याय ने मुझमें यह भावना परिपक्व करदी थी कि सद्गुरु ही विश्व में सम्पूर्ण शक्तियों के धनी होते हैं। धीरे-धीरे मैं सवाई आश्रम में आ पहुँचा। वहाँ सद्गुरुदेव जी के पावन दर्शन प्राप्त हुए। आश्रम की सेवा करने का सौभाग्य मिला। पहले दिन ही मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं अपने घर आ गया हूँ। जितने भी सेवक वहाँ पर काम कर रहे थे सभी प्रसन्नचित्त, निश्चिन्त और निडर दिखाई देते थे। उनके मुख पर निष्काम सेवा की झलक छाई हुई थी। आपस में बात करते तो बड़ी सभ्यता से धीमे स्वर में और उनके एक-एक वचन में विनयशीलता भरी हुई प्रतीत होती थी।

मुझ पर उनके ऐसे सद्व्यवहार का ऐसा प्रभाव पड़ा जिससे मैंने हृदय में निश्चय कर लिया कि संसार में यदि कहीं वैकुण्ठलोक है तो यहीं है। सन्त सद्गुरुदेव कभी-कभी घूमते हुए उधर आ जाते उस समय तो मेरे जीवन में नये सूर्य का उदय हो जाता, रोम-रोम पुलकित हो जाता। दण्डवत् प्रणाम करके जब मैं उनके सुकोमल चरणारविन्दों का स्पर्श करता और श्रीगुरुदेव मुस्कराते हुए कुछ वचन भी कह देते फिर तो मेरे हर्ष की सीमा न रहती। कभी वे प्रसाद देकर मुझे प्रसन्न कर देते कितना सात्विक वातावरण मैंने वहाँ पाया। मैं जब आश्रम में गुफा में ध्यान लगाने को बैठता तो मेरा मन अपने आप ही शब्द की धारा को पकड़ लेता और मेरी समाधि सी लग जाती।

सन्त सद्गुरुदेव जी के चरणों में बैठने से जीव के सब संशय और सन्देह मिट जाते हैं वे फिर ऐसे दयालु और सर्व हितकारी हैं कि बिना किसी भेद-भाव के मेघके समान सबको ही अपनी कृपा-दृष्टि से धन्य कर देते हैं।

जीव की दशा ही पलट जाती है। जो पहले कौए के समान मलिन माया के रस में ही आनन्द माना करता था अब उनकी कृपा से उसमें हंसवृत्ति आई है—यह सत्संग, श्री सेवा भजनाभ्यास और सद्गुरु दर्शन रूपी मोतियों को चुनने लगा है।

सांसारिक भोगों को पानी की तरह फीका जानकर गुरु-भक्ति रूपी वृक्ष का सेवन करने की अभिलाषा रखता है।

—: दोहा :—

सद्गुरु दाता मुक्ति का, दरिया प्रेम दयाल।
किरिपा कर चरनों लिया, मेरा सकल जंजाल।
चौरासी की धार में, बहे जात हैं जीव।
ऐसा सतगुरु हम मिला, ले रस्साया पीव॥
(श्री गरीबदास)

सन्त सद्गुरुदेव जी की मुझ पर असीम कृपा हो गई जो मुझे अपने जीवन के लक्ष्य का पता लग गया उनके नाम-मन्त्र के जाप से मेरे अन्तर्नेत्र खुल गये हैं और मैं स्पष्ट देखने लगा हूँ कि कितने वेग के साथ भवसागर बह रहा है—जीव प्रायः इसी में बहते जाते हैं—मेरी भी ऐसी ही दशा हो जाती यदि सद्गुरु-देवजी मुझे भी चरण कमलों का प्यार न देते।

उनकी ही करुणा दृष्टि के प्रताप से आज मेरा जीवन कितना सुख-शान्तिमय है। घर में नियमपूर्वक आरती-पूजा करता हूँ। भजना-भ्यास में बैठने का नियम रखा हुआ है। जहाँ कहीं भी होता हूँ उनका ही ध्यान मेरे नयनों में रहता है।

मुझे वह दिन भी स्मरण हो आता है जब मेरी बच्ची पर हार्ट-अटैक का दौरा पड़ा था उसकी नब्ज गायब हो गई थी, चेहरा पीला व सफेद पड़ गया था, ऐसेमें कोई डाक्टर भी नहीं आ सकता था—श्री गुरुदेव को बुलाया केवल ३ मिनट सिरपर हाथ फेरा और बच्ची ने आँख खोल दी वह नब्ज फिर वापस आ गई, ऐसी ही दूसरी घटना है। मैं सांची एक्सप्रेस से आगरा जाने के लिए चला, आगरा में नींद लग जाने के कारण न उतर सका बड़ा दुःख हुआ कि मैं पूर्णाहुति में शामिल नहीं हो सकूंगा, गुरुदेव से विनय की पिछले साल भी देरी से पहुँचा था, क्या अबकी बार भी मौका नहीं मिलेगा ?

बस इतना विचार आते ही गाड़ी धीमी हुई और मैं चलती गाड़ी से उतरकर एक मील पैदल चलकर सड़क पर आ गया। एक मोटर ठेले को रोका, कहा मुझे एत्मादपुर चलना है, बोला—आओ मैं भी एत्मादपुर जा रहा हूँ। यों मैं ८ बजे आश्रम में पहुँच गया और पूर्णाहुति में सम्मिलित हो गया। ओहो ! ऐसे हैं मेरे आराध्यदेव श्री गुरुजी !

सन्त सद्गुरु क्योंकि उस आत्म धाम के निवासी होते हैं वे अपने शरणागत शिष्य को अपनी देखरेख में उस परात्पर देश में पहुँचा देते हैं वे ही हमें निज धाम के दिव्य सन्देश अपनी परावाणी द्वारा करा देते हैं।

वेद में वचन है—

"सत्वन्नो अग्ने भवोती नेदिष्ठ"

हे परब्रह्म प्रभो ! आप हमारे कल्याण के लिए अपने उस अनामी धाम से उतर कर हमारे समीप हूजिये।

भगवान भक्तों की पुकार पर इतने व्याकुल होते हैं कि उन्हें अपना लोक भूल-सा जाता है—वे भूमण्डल पर आने को आतुर हो उठते हैं। जहाँ कोई उनका सच्चा प्रेमी-हृदय से उनकी सुधि तो उठाये—वे आवें पर आवें विश्वव्यापी तोवे हैं ही। जिस चित्त ने उनके दर्शनों की चाह की है, जिस मन ने इनसे बातें करने के मीठे स्वप्न संजोये हैं, जो वाणी उनका गुणगान करने में तन्मय हो रही है, जो उँगलियाँ सितार पर सरगम बजा रही हैं वे महाप्रभु सब में हैं—वे तो सब जगह ओत-प्रोत हैं। सच्ची प्रेम भीनी और अनन्य भावना प्रभु मिलन की होनी चाहिए—बस, अपने अपने इष्टदेव किसी न किसी परिचित रूप में आये हुए मिलेंगे।

उनके आने के सभी द्वार खुले हैं—क्या धन्ना भक्त को पत्थर में से, भक्त प्रह्लाद को तपे हुए लोहे के स्तम्भ में से, राजरानी मीरा को विष के प्याले में नजर नहीं आये थे ? इतिहास साक्षी है, निर्गुण, निराकार प्रभु का यह अव्यक्त रूप ज्ञानी लोगों के लिए सुरक्षित रहता है। वे निराकार के उपासक क्या ब्रह्म के साक्षात्कार से वञ्चित रह जायें ? हाँ जो प्रेम भक्ति के रसपान करने के लिए लालायित रहते हैं उन्हें वही निर्विशेष निर्गुण ब्रह्म सगुण साकार होकर सन्त सद्गुरुदेव के रूप में आ मिलते हैं।

कहा जाता है कि परमात्मा के दो नेत्र हैं एक सूर्य और दूसरा चन्द्र। एक बार इन दोनों में खटपट हो गई—उनकी ऐसी कुचेष्टा को देखकर परमेश्वर ने उनको छुट्टी दे दी। और ईश्वर ने घोषणा करदी कि मुझे ऐसी झगड़ालू आँखें नहींचाहिए। तुम अपना-अपना कर्तव्य सम्भालो—मेरी आँखें तो प्रेम है। जो सदा ही उज्ज्वल, विमल, निश्चय और निरञ्जन है। जिसके अन्तराल में प्रेम हिलोरें लेता होगा वहीं मेरा मंगलमय आशीर्वाद जा

पहुँचेगा। प्रेम की वीणा पर गाया जाता हुआ संगीत मैं ही तो हूँ।

हे मेरे गुरुदेव जी ! आइए मैं तो आपकी बाट जोह रहा हूँ। आप आवें और हमें उस अगोचर निजधाम की दो चार बातें सुनादें। सन्त सत्पुरुष ही अपने घर के समाचार ला देते हैं, मैं क्यों न उनके चरण धोकर पीऊँ।

जब से उस आत्मा के देश की बातें श्रीगुरुदेवजी ने बताई हैं—उन्हें सुन-सुनकर आँखों से तो नींद ही भाग गई है। यही उत्कंठा सदा बनी रहती है कि श्री गुरुदेव का वियोग तो कभी हुआ न करे। विरह की दशा में तो आँखें आठों पहर नीर ही बहाती रहती हैं। धन्य हैं वे मेरे गुरुदेव जिन्होंने अपने परमपद का भेद मुझे समझाकर जन्म-मरण के चक्र से छुड़ा दिया है।

धनी धर्मदास जी ने जिस तत्व को अपने परम सन्त श्री कबीर साहिब से प्राप्त किया था उसीकी प्राप्ति ब्रह्मज्ञानी बालयोगी श्री शुकदेव जी को राजर्षि जनकजी की अतुल कृपा से हुई थी। यह परमपद के सार भरे तत्व हैं जिन्हें सन्तजन ही अपने प्रसाद के रूप में सत्पात्र शिष्यों को दिया करते हैं। चरक और सुश्रुत के श्लोकों को याद कर लेने मात्र से कोई धन्वन्तरी नहीं बन जाया करता। उसे ये दोनों ग्रन्थ पढ़ने के लिए किसी आयुर्वेद के प्रकाण्ड पण्डित के चरणों की सेवा करनी होगी। उनके मुख से पुस्तकों को पढ़ना होगा, तब कहीं जाकर वह आयुर्वेद का प्रवीण वैद्यराज बन सकेगा। इधर यह अध्यात्म वि ा भी अविद्या बन जाती है जिसे सद्गुरुदेव जी की सेवा-सुश्रुषा के बिना ग्रहण किया हो।

दोहा—

गुरु समान तिहुँ लोक में, और न दीखे कोय।
नाम लिये पातक नसे, ध्यान किये हरि होय।

मुझे तो तीनों लोकों में अपने गुरुदेव के समान परोपकारी नहीं दिखाई देता। उनका नाम ही ऐसा मंगलमय है जिसे जब भी जपा जाय सम्पूर्ण पाप भस्म हो जाते हैं। जिनकी दिव्य छवि का ध्यान कर लिया जाय तो भक्त जीव से ब्रह्म हो जाता है। विचार के योग्य सत्य तो यह है कि जिनका ध्यान मात्र ही शिष्य को ब्रह्म कोटि तक पहुँचा देता है वे सन्त सद्गुरु स्वयं न जाने कितनी शक्तियों के स्वामी होंगे।

सद्गुरु ब्रह्म रूप होते हैं "इस वचन पर अटल विश्वास रखने से परमार्थी साधक भक्ति में सफल हो सकता है। भगवान श्रीकृष्ण जी कितनी यथार्थ बात कहते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा,
मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो,
मम भूतमहेश्वरम्॥

गीता अ० ९ श्लोक ११

ये अज्ञानी जन मेरे मनुष्याकार रूप को देखकर यही समझ लेते हैं कि मैं भी उन जैसा ही देहधारी हूँ—सचाई तो यह है कि ये मेरे उस अविनाशी, अविकारी नित्य स्वरूप को देख नहीं पाते—

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय
सम्भवाम्यात्ममायया।

गीता अ० ४ श्लोक ६

मैं जो इस लोक में सज्जनों के कल्याण और दुष्टों के संहार के लिए युग-युग में जन्म

धारण करता हूँ वह मेरा प्रादुर्भाव किसी कर्म फल को पाने के निमित्त नहीं हुआ करता— प्रकृति तो मेरे अधीन रहती है, मैं अपनी ही स्वतन्त्र इच्छा से किसी रूप में अवतार ले लेता हूँ।

सन्त जनों की वाणियां परावाणियां होती हैं उनके अर्थों का परिचिन्तन इस साधारण बुद्धि से नहीं हो सकता। उसके लिए सत्पुरुषों से ही ऐसे साधनों को सीखना पड़ता है जिनसे वह हमारी बुद्धि सूक्ष्म हो सके। इसके उपर आये हुए माया के आवरण हट जायें, योगाभ्यास के द्वारा मन और इन्द्रियां निर्मल होती हैं और वैराग्य वृत्ति से किया हुआ सन्त साहित्य का स्वाध्याय इसमें प्रचुर सहायता करता है। परन्तु इतने से भी कार्य में सफलता न होगी। जब तक कि अपने इष्ट देव के चरण-कमलों से अनन्य प्रेम नहीं होगा उनके वचनों पर अचल श्रद्धा नहीं होगी और उनके द्वारा दिये हुए नाम-मन्त्र पर विश्वास न होगा। कारण इसमें यह है कि सदगुरु मन और बुद्धि की पहुँच से ऊपर के देश के होते हैं। वे विशुद्ध आत्मरूप हैं, ब्रह्म हैं, परब्रह्म हैं उनसे परे कोई तत्व बाकी नहीं रहता।

"पुरुषान्न परं किञ्चित्सा

काष्ठा सा परागतिः"

अर्थात् उस परिपूर्ण पुरुष से बढ़कर कोई भी तो नहीं, वही अपने आप में अन्तिम से अन्तिम सीमा में स्थित है उपनिषद्। ऐसी पराकोटि के अधिपति सदगुरुदेवजी को यह हमारी अनेक भागों में बँटी हुई बुद्धि क्या जान पायेगी ? यद्यपि मन जिन्होंने परात्पर ब्रह्म का साक्षात्कार किया क्या सुन्दर निर्णय देते हैं—

१. अविज्ञातं विजानतां

विज्ञातमविजानताम् ।

२. यस्यामतं तस्य मतं

मतं यस्य न वेद सः ॥

१. जिनके मन में यह विश्वास हो कि हमने ब्रह्म को जान लिया है वे वस्तुतः नहीं जान पाये और जो ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी अपने को ब्रह्म ज्ञानी नहीं कहते उन्होंने तो सचमुच ही ब्रह्म को जाना होता है।

२. जो कहते हैं हमें पता नहीं कि ब्रह्म का स्वरूप क्या है ? वे उसे जान चुके हैं और जो अपने मुख से ब्रह्म को जानने की बात करते हैं वे वास्तव में उस ज्ञान से कोरे हैं।

परमहंस श्रीरामकृष्ण जी बंगाल के एक सन्त हुए हैं। उनके प्रमुख शिष्यों में एक का का नाम स्वामी विवेकानन्द था। आपकी इतनी गहरी निष्ठा थी अपने सदगुरुदेव श्री परमहंस श्रीरामकृष्ण देवजी के प्रति जिसे इनकी दृष्टि में उनका अस्थि-चर्ममय शरीर पार्थिव नहीं रहा था। वह उसे पाँच भौतिक शरीर नहीं मानते थे। यदि विवेकानन्द की दृष्टि उनकी काया को मानुषी काया समझती होती तो वे वह कार्य न कर सकते जो उन्होंने अपने प्राणों की भी परवाह न करके सम्पन्न किया। घटना यों बतायी जाती है कि—

परमहंस श्री रामकृष्ण जी को गले का का कैंसर था। डाक्टर ने उसका आपरेशन किया जितना मवाद निकला उसे एक बाल्टी में रखवा दिया। डाक्टर यह कहकर हाथ धोने के लिए चला गया कि आप लोगों में से कोई भी इस जहरीली बाल्टी को हाथ नहीं

लगायें। इसे मील भर दूर जंगल में एक गड्ढा खोदकर उसमें दबा देना होगा।

गुरुनिष्ठ प्रेमी विवेकानन्द आये—चुपके से उठाई बाल्टी और सब कुछ गटक गये—डाक्टर ने लौटकर पूछा कि आपने बाल्टी कहाँ गिरादी ? सभी शान्त खड़े रहे विवेकानन्द ने कहा वह तो मैं गंगाजल से भी अधिक मानकर पी गया—डाक्टर उनके मुँह की तरफ ताकता रह गया परन्तु विवेकानन्द अपने जीवन चरित्र में लिखते हैं कि ज्योंही मैंने उस बाल्टी का पान किया मुझे एक अति दिव्य प्रकाश दिखाई दिया—बहुत देर तक मैं उस अलौकिक ज्योति की धारा में तैरता ही रहा। इस सत्य घटना को कौन झुठला सकता है ? शरीर विज्ञान की दृष्टि से इस तथ्य पर विचार किया जाय तो मन और बुद्धि चकित रह जायेंगे। कोई भी पुरुष विवेकानन्द के ऐसे अमानुषिक कार्य की प्रशंसा कभी न करेगा। पीने वाले के साथ तर्क और वितर्क करने का विषय भी नहीं है यह। यह तो श्रद्धा विश्वास के नेत्रों से देखी हुई वस्तु है—विश्वास मन-बुद्धि के कपाटों को बन्द करके इस घटना पर विचार करना होगा। इसे कहते हैं अन्ध श्रद्धा—

श्रद्धा और विश्वास हार्दिक तत्व हैं। श्रद्धा विश्वास के द्वारा ही आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन किया जाता है यह है ही बुद्धि के परे की वस्तु जिसे तर्क की तुला पर नहीं तोला जा सकता।

प्रकृतिभ्यः परं यत्तु

तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥

जो चीज तीनों गुणों की सीमा से परे की हो उसे विचार-विमर्श द्वारा सुलझाया नहीं जा सकता।

सद्गुरु का स्वरूप ज्योतिर्मय है। ज्योति भी ऐसी जिसके तेज के स्पर्श से ही सूर्य, चांद और तारे चमक उठते हैं।

उस अलौकिक ज्योति का वर्णन गीता यों करती है—

न तद्भासयते सूर्यो,

न शशाङ्को न पावकः ।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते,

तद्धाम परमं मम ॥

गीता अ० १५, श्लोक ६

सद्गुरुदेवजी के श्री विग्रह को ये प्रकाशमय पिण्ड सूर्य, चाँद, तारे, बिजली इत्यादि नहीं प्रकाश दे सकते। मेरा तो यह अमर धाम है जहाँ पर जाकर जीव पुनः जन्म-मरण के चक्र में नहीं आ सकता। इतना ही नहीं उस तेजोमय प्रकाश के गौरव का रमणीय चित्र उपनिषद् इस प्रकार खींचती है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं,

नेमा विद्युतो भान्तिकुतोऽयमग्निः ।

तमेव भान्त मनुभाति सर्वं,

तस्यैव भासा सर्व मिदं विभाति ॥

सन्त सद्गुरुदेव जी के धाम से सूर्य, चाँद तारे और आग किसी का भी प्रवेश नहीं है—ये प्रकाश पुञ्ज पिण्ड उनकी ज्योति पाकर ही जगमगा जाते हैं।

"श्री सद्गुरुदेव जी के पवित्र चरण-जल सदैव मेरे मस्तक पर रहते हैं तो मेरे समस्त क्लेश कट जाते हैं। जब मैंने अपनी विचार शक्ति ही श्री गुरुदेव जी को अर्पित करदी तो मुझे दुःख के चिन्तन करने की क्या आवश्यकता ? जबसे मैंने अपना सर्वस्व ही श्रीचरणों पर न्यौछावर कर दिया तभी मुझे आत्मा के

स्वरूप का बोध हो गया। मैंने ज्यों ही श्री-चरण-रज का विधि पूर्वक स्मरण किया, मेरा सारा अहंकार काफूर हो गया। इसी अहंकार ने तो मुझे उनसे दूर रखा हुआ था। उनके मधुर प्रिय श्री वचन मन को कितने प्यारे लगते हैं उनके मिठास में चित्त विभोर हो जाता है और ब्रह्म सत्ता सूक्ष्म रूपसे प्रकट हो जाती है। ऐसे अक्षयसुख के दाता मेरे जीवन के निर्माता सन्त सद्गुरु ! आप धन्य हैं। मेरा अन्तरात्मा और ये प्राण सब कुछ ही आपके आश्रय से स्थित है। आप ही इन सबके एक-मात्र अवलम्ब हैं।

महाराष्ट्र केसरी छत्रपति शिवाजी के गुरुदेव समर्थ श्री रामदास जी थे। शिवाजी उन पर घना भाव रखते थे। गुरुदेव भी उन-के द्वारा-लोक कल्याण कराना चाहते थे। एक दिन समर्थ गुरुदेव अपने कुछ शिष्यों के साथ वनों में विहार करते हुए जा रहे थे। मार्ग में ईख का खेत आ गया। लहलहाते खेत में पके हुए गन्ने देखकर शिष्यों का मन ललचा गया।

भूख, प्यास उन्हें वैसे भी सता रही थी। श्री गुरुदेव जी की अनुमति की परवा न करते हुए ही उस ईख के खेत पर पिल पड़े। खेत वाला उस समय वहाँ नहीं था। वे लोग लगे मनमानी करने। थोड़ी देर में किसान वहाँ आ गया। उसने उन लोगों को इस प्रकार खेत को उजड़ता देखकर रोष भरे स्वर में पहले तो डाँट-फटकार लगाई, पर वह मंडली फिर भी बाज नहीं आई। खेत वाले को और भी क्रोध आ गया और उसने गन्ने से ही उन की अच्छी मरम्मत करदी। श्री गुरुदेवजी भी उसकी कृपा से बच न सके।

दूसरा दिन हुआ। प्रातःकाल जब नित्य-नियम के अनुसार शिवाजी अपने गुरुदेव जी को स्नान कराने लगे तो देखते क्या है— "श्री गुरुदेवजी की कोमल काया पर तो नीले निशान पड़े हैं"—उनकी आँखों में आँसू छलछला आये और क्रोध से तमतमा उठे। विनयपूर्वक हाथ जोड़कर पूछने लगे— 'भगवन ! यह अत्याचार किस नराधम चाण्डाल ने किया ?' समर्थ गुरुदेव शांत रहे। शिवाजी पूछ-पूछकर हार गये, परन्तु गुरुदेव जी कुछ भी बताने को राजी न थे—शिवाजी भी चुप हो रहे। अन्त में शिष्यों से एकान्त में जाकर शिवाजी ने सारा हाल पूछा।

दरबार लगाया गया। शिवाजी एक ऊँचे दिव्य सिंहासन पर अपने सद्गुरुदेव जी को आदरपूर्वक विराजमान कराकर स्वयं न्याया-सन पर बैठ गये। उस ईख के खेत वाले किसान को बुलवा भेजा। उसने जब महाराज शिवाजी का आदेश सुना वह कांप गया। थर्राता हुआ-सा राज दरबार में उपस्थित हुआ। उसके मन में अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प जल के बुलबुलों के समान बनते और टूटते जा रहे थे। ज्योंही उसकी दृष्टि एक ऊँचे दिव्य सिंहासन आसीन उन महात्मा पर पड़ी उसका माथा ठनका। उसके पांव तले से धरती खिसकती मालूम दी। वह सब कुछ भांप गया और लगा किसी कठोर दण्ड की प्रतीक्षा करने।

शिवाजी ने अत्यन्त दीन-भाव से श्री चरणारविन्दों में सिर झुकाकर पूछा—"देव, इस अधम अपराधी के लिए किस दण्ड की आज्ञा देते हैं ? श्री गुरुदेव मौन रहे। तीन-चार बार वही प्रश्न छत्रपति ने दोहराया किन्तु श्री गुरुदेवजी मुस्कराते रहे। अन्त में इतना ही बोले—शिवा बा ! (गुरुदेव शिवा जी को इसी प्यार भरे शब्द से पुकारा करते थे) क्या कहते हो ? "दण्ड इसे दोगे—जो मैं

कहूँगा।" क्यों नहीं गुरुदेव ! आपके आदेश का अक्षरशः पालन होगा।

"शिवा बा ! इसे यह ईख का खेत और उसके साथ लगती हुई सारीभूमि दान करदी जाय। दो-तीन गांव और भी इसके नाम लगा दिए जावें। जिससे वह सुखपूर्वक जीवन निर्वाह कर सके।"

सारा दरबार बिस्मय सागर में डूब गया। धन्य ! धन्य ! सन्तों की महिमा धन्य ! शिवाजी अपने गुरुदेव जी की ऐसी कोमल, मधुर और कमनीय वचन वाणी को सुनकर स्तब्ध रह गये—वह किसान तो भूमि में गढ़ गया—उस पर घड़ों पानी पड़ गया। कैसा अनोखा न्याय है। किस प्रकार सन्त सद्गुरुदेव दूसरे के दोषों को ढांप लेते हैं। खेत का मालिक सोच ही न सका कि ऐसी अलौकिक विभूतियाँ इस धरती पर ऐसे कलिकाल में भी हो सकती हैं।

सज्जनों की करनी कपास के समान होती है। कपास को चखकर देखें तो उसमें रस नहीं होता। वह होती बड़ी श्वेत है। उसमें से फिर सूत खींचा जाता है। वह कपास ओटे जाने, काते जाने और बुने जाने के कष्टों को देखकर प्राणियों के शरीरों को वस्त्र बनकर ढाँप देती है। सत्पुरुष भी इसी प्रकार से स्वार्थ रहित और विमल चरित्र होते हैं। सद्गुणों के निधान हैं। अपने ऊपर क्लेष लेकर दूसरे के दोषों को, उनके अपराधों को क्षमा कर देते हैं। तभी तो यह संसार उनकी वन्दना करता है। उनकी स्मृतियों में अनेकों भव्य भवनों का निर्माण किया जाता है। ऐसा दुष्कर कार्य सन्त महापुरुष ही कर सकने में समर्थ हैं साधारण जन नहीं।

॥ दोहा ॥

खोद-खार धरती सहै, काट-कूट बनराय।
कुटिल वचन साधु सहै, और से सहा न जाय।
(कबीर)

अर्थात् यह भूमि का ही विशाल हृदय है जो सैकड़ों नदियाँ, नाले, कुंए और खाइयाँ तथा खदानें उसमें खोद ली जाती हैं फिर भी वह भरी-भरी दिखाई देती है। लाखों मन लकड़ियों के काट लेने पर भी एक महाबन घना ही बना रहता है। इसी तरह सन्त सत्पुरुष ही दुर्जनों के वचनों को अपनी अगाध गम्भीरता से सहन कर जाते हैं।

हमारा धर्म है कि हम अपने सद्गुरुदेव जी के श्री वचनों की छाया में अपने जीवन को सफल करते चलें।

—: अमृत-कण :—

● जो मनुष्य सावधान होकर नहीं सुनते, उनके कान जगत के प्रपञ्चपूर्ण कोलाहल से बहरे हो रहे हैं; उन्हें सत्य का दिव्य सन्देश नहीं सुनाई देता। जो लोग सावधान होकर नहीं देखते, उनकी आँखें जगत् के बाहरी मिथ्या रूप से चौंधियाई हुई हैं, उन्हें अन्तर्निहित सत्य-स्वरूप नहीं दिखाई देता। जो लोग सावधान होकर कर्म नहीं करते, उनकी शक्ति जगत के असार पदार्थों की प्राप्ति में नष्ट होती रहती है; उन्हें सार तत्त्व की उपलब्धि नहीं होती।

● प्र० श्री जगन्नाथ 'पथिक'

जगत् रचना का उद्देश्य कर्मफल-भोग

शास्त्रकारों का अनुभव है कि दयालु भगवान ने इस जगत् की रचना जीवों के कल्याणार्थ ही की है। अविद्या-अज्ञान-अन्धकार में घिरकर तनुधर मानव जब जड़ात्मक प्रकृति के नश्वर पदार्थों के जाल में सुख-बुद्धि से आसक्त हो घिर जाता है तब वह जन्म-जन्मान्तरों तक उन्हीं पदार्थों की प्राप्ति के लिए नाना योनियों में घूमता हुआ सुख-दुःख भोगता रहता है—

सुख तो इसे अति न्यून मात्रा में यदा-कदा ही मिलता है परन्तु दुःख अति मात्रा में भोगता है; कर्मफल भोग के रूप में मानव को 'जाति-आयु तथा सुख-दुःख रूप भोग' प्राप्त होता है। विषयों द्वारा मिलने वाला क्षणिक सुख और स्थाई दुःख विषयों तथा पदार्थों की असारता को दर्शाता है; यह 'बोध' विवेकी को होता है, साधारण अल्पमति संसारी जन भोगते हुए भी इस रहस्य को जान नहीं पाते, परन्तु 'विद्वान-विवेकी' स्वानुभूति तथा आर्ष वचनों के आधार पर समस्त क्लेशों के मूल कारण को खोजकर और उसका यथार्थ-बोध ग्रहण करके परमार्थ प्राप्ति का उपाय करते हैं। ये धीर मनीषी पुनः उलझन में न पड़कर भुक्त-भोगों से प्राप्त हुए कष्टों को अपनी परिशुद्ध-स्मृति तथा ध्यानमें रखते हुए, क्लेशों की जननी 'अविद्या' को नष्ट करने में कटि-बद्ध हो जाते हैं—तन, मन से इसी में जुट जाते हैं और भागवत-उपासना से प्राप्त हुई 'सुबुद्धि' का प्रयोग करके, अष्टाङ्ग-योग-साधना से क्लेशों की जननी 'अविद्या' को मिटा कर अपना जीवन सफल बना लेते हैं—वे धन्य हैं, कृतकृत्य हो जाते हैं वे।

दूसरे वे जन साधारण भी भले हैं जो वर्तमान जीवन में भगवान की दी हुई भोग सामग्री तथा अनेक प्रकार की सुख-सुविधाओं से लाभ उठाकर—भोगों में मिश्रित क्लेशों की यत्किंचित् अनुभूति करके छुटकारा पाने के लिए हाथ-पैर हिलाते हैं अर्थात् परमानन्द प्राप्ति की ओर बढ़ चलते हैं—संसार की आसक्ति से मुख मोड़कर मोक्ष की ओर अपने पग बढ़ा देते हैं।

तीसरे मन्दमति वे अभागे जीव हैं जो विषयों की लिप्सा से पुनः-पुनः प्रताड़ित होते हुए—लताड़े जाते भी, 'आधि-व्याधियों' से निरन्तर जर्जरित हुए भी नहीं चेतते; स्वभाव से सर्वथा प्रतिकूल अनात्मतत्व 'जड़ पदार्थों तथा विषयों' से फिरभी सुख की आशा रखते हुए कष्टप्रद जड़ता में अधिकाधिक अपने को जकड़ते चलते हैं—मूढ़ता की दलदल में धंसते जाते हैं। भोग-विलास को ही जीवन का लक्ष्य मानकर चलने वाले दया के पात्र हैं जो निज जीवन को विषयाग्नि में जलाकर भस्म कर रहे हैं—अधर्म के फन्दे को गले में डाल-कर आत्महनन कर रहे हैं। अतः परमकारु-

णिक भगवान ने भोगियों को उनके मन चाहे 'भोग' और मुमुक्षुओं को उनका अभीप्सित मोक्ष दिलाने के लिए सृष्टि का निर्माण किया है; यह जगत् दोनों प्रकार के जीवों की मनोकामना पूर्ण करता है—पूर्ण कर रहा है।

क्लेशों का कारण 'अविद्या' का रूप—

सुख-दुःख जन्म-मरण आदि, क्लेशमाला की जननी जीवों को बन्धन में डालने वाली 'अविद्या' का स्वरूप क्या है? 'अनित्य-अशुचि दुःख-अनात्मसु नित्य-शुचि-सुख-आत्मख्यातिर विद्या'—योग २/५ सूत्रोक्त अविद्या का यह लक्षण है; अर्थात् प्रतिकूल गुण-कर्म-स्वभाव वाले अनित्य-नश्वर, अपवित्र, दुःखदायक देह-रूपादि विषय, अहंकार आदि अनात्म जड़ पदार्थों को अविनाशी, पवित्र, सुखद और चेतन मानकर व्यवहार करना 'अविद्या' है—अज्ञान है—बन्धन का कारण है। ऐसा ही हम नित्य के व्यवहार में देखते हैं—प्रत्येक मनुष्य अपने नश्वर-अपवित्र-रोगादि दुःखों से पूर्ण जड़ देह को चिरस्थायी-पवित्र-सुखदायी और चेतन मान कर ही व्यवहार कर रहा है; फलस्वरूप वह इस कर्म-शृंखला को छिन्न-भिन्न न करके उसे निज व्यवहार से सुदृढ़ बनाता जा रहा है। क्योंकि 'देह-इन्द्रिय-प्राण-मन-बुद्धि-अहम् तथा रूप-रस-आदि इन सभी जड़ और नश्वर विषयों की दीनता-दासता आधीनता से निकल कर 'स्वरूप' को जान पहचान कर उसी में स्थित रहने की स्वाधीनता-स्वतन्त्रता ही 'आनन्द और शान्ति' का मूल-मन्त्र है। 'स्वरूपस्थ दशा' में ही सच्चिदानन्द स्वरूप परमानन्द तथा परम शान्ति की उपलब्धि होती है जिसके लिए यह 'जीव' न जाने कब से प्रयत्नशील है। अतः उक्त 'अविद्या' से अभिभूत होकर विषयों के या जन्म-मरण के वश हो जाना यह परवशता ही स्वयं में महान कष्ट है; फिर चेतन आत्मा अन्ध-जड़ प्रकृति की आसक्ति में रहे, क्या यह आश्चर्य जनक नहीं है?

जगत् के सब दिव्य-दृष्टि संयुक्त, 'दिव्य-बुद्धि प्राप्त' विवेकी जनों की इस विषय में लगभग एक-सा एक ही मत है कि, 'मन-बुद्धि-इन्द्रियों' के द्वारा जो कुछ भी जाना जाता है—जाना जा सकता है वह जड़ प्रकृति का किसी न किसी रूप में कोई विकार ही होता है; और वह पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश रूप पंचमहाभूतों' का किंवा उनके कारण 'गन्ध-रस-रूप-स्पर्श शब्द रूप विकार (विषयों) के अन्तर्गत आ जाने से नाम-रूपों में विभक्त किया जा सकता है अथवा उसे त्रिगुणों का रूपान्तर कहा जा सकता है। न्यूनाधिक मात्रा में मिल कर त्रिगुणों से से निर्मित इस जगत् में भले ही पदार्थों में अनेक रूपता-विविधता दृष्टिगोचर हो रही है जो समय-समय पर हमें लुभायमान करती है और भ्रम में डाल देती है, परन्तु मूलतः वह जड़ात्मक त्रिगुणों का विकार-मात्र ही है—होती है। आत्मवेत्ता आप्तजनों की इस अनुभूति पर विश्वास श्रद्धा या आस्था रख कर न चलना भी क्लेशों का कारण है।

विकार-विषय

सुख-शान्ति के इच्छुक जनों को 'काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-शोक-अहंकारादि विषय-विकारों' तथा 'एषणाओं' को विजित करके उनका पूर्ण त्याग करना होगा; इन विकारों से विकृत अथवा मलिन बना अन्तःकरण 'यथार्थ-बोध' प्राप्त कराने में समर्थ नहीं हो पाता जैसे मलिन दर्पण मुख दर्शाने में असमर्थ रहता है। अतः विवेक प्राप्ति का एक मात्र उपाय है 'विषय-विकारों' को परित्याग करते हुए साथ में 'अष्टाङ्ग योग' को अनुष्ठान

भी करना—जैसे रोग निवारणार्थ पथ्य के साथ औषध भी सेवन करना; इससे कल्याण का पथ आलोकित हो उठता है।

'काम'—

प्रत्येक इन्द्रिय का अपना एक विषय रूप रस आदि निश्चित है, वह इन्द्रिय अपने ही विषय को ग्रहण करती है एवं उसी का बोध कराती है; अतः किसी इन्द्रिय को विकारों में रमण न करने देकर विषय का ही यथार्थ-ज्ञान करने से किसी सीमा तक 'अविद्या' से बचाव हो सकता है।—अज्ञान की वृद्धि से सुरक्षा हो सकती है। परन्तु 'काम'—जो कि विषय-विकारों में प्रथम है—अग्रणी गिना गया है, वह एक इन्द्रिय 'उपस्थ' का ही विषय एवं विकार नहीं है प्रत्युत 'सर्वेन्द्रिय-विकार-समूह का नाम 'काम' है।' अर्थात् जैसे नेत्र मूँद लेने पर शब्द का ज्ञान नहीं होता—इन्द्रिय का विषय के साथ किसी भी प्रकार से हो—संयोग न होने देने पर विषय का बोध नहीं होता—नहीं हो सकता; परन्तु काम की उत्पत्ति एवं जागृति किसी भी विषय के चिन्तनसे तथा किसी इन्द्रिय में उत्तेजना होने से केवल स्मृति मात्र से हो सकती है—हो जाती है; सुतरां उत्तेजित इन्द्रिय यथार्थ ज्ञान नहीं करा सकती।

फलतः कामान्ध व्यक्ति अविवेकग्रस्त हो कर सम्भावित सब अनर्थ कर डालता है। अतः 'काम-विकार' मनुष्य के शत्रुओंमें महान और उग्रतम शत्रु है; इसका मुख्य उपकरण देह है, जिसके द्वारा यह मनुष्य का सर्वनाश कर डालता है। देह के रंग-रूप आदि पर मुग्ध हुए नर-नारी कामान्ध होकर पापकूप में जा गिरते हैं; अतः इसमें भिड़न्त करना अति-धीरता-सहिष्णुता का तथा इसे पछाड़ देना तो अतिशूर का कार्य है। 'काम' को विजित कर लेने पर इसके संगी-साथी अन्य विकार परास्त हो जाते हैं—स्वयं पलायन कर जाते हैं, जैसे मन को जीत लेने पर मन की सेना—प्राण और इन्द्रियाँ स्वयं वशीभूत हो जाती है—वश में आ जाती हैं वैसे ही 'काम' के किंकर-नौकर-चाकर भी 'कामजयी' के अनु-चर बन जाते हैं। इसको विजित करने के लिए आवश्यक है संकल्प-शक्ति और अभीप्सा का होना।

—: दृढ़ संकल्प करो :—

तुममें जहाँ दोष है, दुर्व्यसन हैं, उनको दूर करने का दृढ़ संकल्प करो। जहाँ तुम अजितेन्द्रिय सिद्ध होते हो, वहीं जितेन्द्रिय अथवा संयमी होने का दृढ़ संकल्प करो। यदि तुममें कहीं हिंसा, चोरी, व्यभिचार की क्रिया दीखती हो, तो वहीं तुम हिंसा न करने का, चोरी न करने का, औरऔर अनाचार-व्यभिचार न करने का दृढ़ संकल्प करो। यदि कहीं तुम असत्य भाषण, निन्दा, कठोर वचन और व्यर्थ वार्ता द्वारा वाणी से पाप करते हो, तो इन पापों के त्याग का दृढ़ संकल्प करो। तुम अभिमान, लोभ, क्रोध, मोह और इत्यादि विकारों के सर्वथा त्याग का दृढ़ संकल्प करो। और दोषों का चिन्तन न करके गुणों का ही मनन करो।

● डॉ० श्यामप्रसाद शर्मा

—: बन्ध और मोक्ष का कारण :—

मानव शरीर की रचना बड़े अद्वितीय ढंग से हुई है, अखिल सृष्टिकर्त्ता की कारीगरी इसमें स्पष्ट लक्षित होती है। शरीर में जिस अंग की जिस जगह आवश्यकता है वह अंग उसी जगह स्थित है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण-चतुष्टय की स्थापना इसके अन्दर हुई है। अन्तःकरण-चतुष्टय में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार है बन्ध और मोक्ष का कारण मन को ही बतलाया जाता है। यथा—

मन एवं 'मनुष्याणाम् कारणम् बन्ध मोक्षयो:' यह मन ही बन्ध व मोक्ष का परम कारण है। यही मन मननीय शक्ति बनने पर ईश्वर की प्राप्ति करा देता है। मन का धर्म संकल्प-विकल्प है। पारमार्थिक सभी अवस्थाओं में मन का बड़ा महत्व है। श्रीमद्भागवत् में इसका वर्णन भिक्षु गीत में किया गया है। यथा—

नायं जनो मे सुखदुःखहेतु
नं देवताऽऽत्मा ग्रहकर्मकाला: ।
मन: परम् कारणमामनन्ति
संसार चक्रम् परिवर्तयेद् यत् ॥ —श्रीमद्भागवत् ११/२३/४२

भिक्षु कहते हैं कि मेरे सुख अथवा दुख का कारण न ये मनुष्य है न देवता है, न शरीर, न ग्रह, कर्म एवं काल आदि ही हैं।

ऋषियों और महात्मा जन मन को ही इसका परम कारण बतलाते हैं। मन ही सारे संसार-चक्र को चला रहा है। श्रीमद्भगवत् गीता में मन की चंचलता के बारे में अर्जुन ने श्रीकृष्ण भगवान से इस प्रकार कहा है—

चंचलंहि मन: कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहम् मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥
—गीता ६/३४

हे कृष्ण मन बड़ा चंचल है और प्रमथन स्वभाव वाला है तथा बड़ा दृढ़ और बलवान है इसलिए उसको वश में करना वायु की भाँति अति दुस्कर मानता हूँ। इस पर श्री भगवान कहते हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्

हे महाबाहो निःसन्देह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है।

इसका नाम तो मन (४० सेर) रख दिया है परन्तु है बड़ा हलका, हलके से ही फिसल जाता है साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या है। बड़े-बड़े मण्डलेश्वरों का भी चित्त चलायमान हो जाता है। एक बार एक मण्डलेश्वर अपने शिष्यों के यहाँ सत्संग में गये थे वहाँ पर उनको दक्षिणा में ५०० रुपये प्राप्त हुए। सत्संग समाप्ति के बाद वे अपने आश्रम को वापिस हुए। जब स्टेशन पर आ गये तब सोचने लगे अमुक स्थान पर शिष्य रहता है चलो उसके पास होकर निकल चलें। क्योंकि उसने कई बार कहा है कि महाराज जी कृपा करके मेरी कुटिया को भी किसी दिन पवित्र करियेगा। ऐसा संकल्प करके महाराज जी ने उसी स्टेशन का टिकट ले लिया और उस स्टेशन पर पहुँचकर गाड़ी से उतर कर जिस स्थान पर पहुँचना था उस स्थान के लिए एक रिक्शा वाले से बातचीत की कि हमको उस स्थान पर पहुँचना है बताओ कितने पैसे लोगे? रिक्शा वाला कहने लगा महाराज आप जो उचित समझें मुझे दे देना, क्योंकि मुझे सुबह से एक भी सवारी ले जाने के लिए नहीं मिली है। स्टेशन से वह स्थान २ किलोमीटर की दूरी पर था। महाराजजी बैठ गये और रिक्शा वाला महाराज जी को लेकर चलने लगा। रास्ते में महाराज जी रिक्शा वाले से बोले कि तुम्हारा प्रतिदिन का खाने का खर्चा कितना है? रिक्शा वाला कहने लगा—महाराज जी २१ रु० का दैनिक खर्चा है क्योंकि परिवार में मैं व धर्मपत्नी व तीन बच्चे हैं। मँहगाई का समय है किफायत से चलने पर भी इतने रु० व्यय हो जाते हैं। इधर आज सुबह से एक पैसा भी पैदा नहीं हुआ है।

महाराज जी सोचने लगे कि यह गरीब आदमी है सुबह से इसे एक सवारी भी नहीं मिली है इसलिए यह इतना उदास है इसका चेहरा उतरा हुआ है और मुझसे इसने एक पैसा भी नहीं माँगा है अतः इसे मैं १०० रु० दे दूंगा जिससे यह खूब प्रसन्न हो जायेगा। मैं यह समझूंगा कि दक्षिणा में ४०० रु० ही मिले। थोड़ा आगे चलने पर फिर सोचने लगे १०० रु० तो ज्यादा हैं इसे ९० रु० दे दूंगा। फिर आगे बढ़ने पर मन ही मन कहने लगे ९० रु० तो ज्यादा हैं और ८० रु० दे दूंगा रिक्शा वाला चलता जा रहा था। महाराज जी ने मन में फिर कहा कि ८० रु० तो ज्यादा है ७० रु० ही दे दूंगा, फिर ऐसे ही ६० पर फिर ५० पर महाराज जी आ गये।

अभी वह गन्तव्य स्थान १/२ किलो मीटर की दूरी पर था तब महाराज जी कहने लगे रिक्शा वाले पैसा लो। रिक्शा वाला बोला महाराज जी ऐसी क्या जल्दी है। मैं वहीं पर ले लूंगा। तब महाराज जी बोले अरे जल्दी ले नहीं तो यह भी जा रहे हैं। यह कहते हुए रिक्शा वाले को ५० रु० का नोट दे दिया।

यह है मन की गति। क्षण-क्षण में बदलने का यह एक उदाहरण। इसलिए श्रीकृष्ण भगवान ने भी कहा है कि हे महाबाहो निश्चय ही यह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है। परन्तु—

अभ्यासेनतु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य से मन वश में हो जाता है। इसी प्रकार पातञ्जलि योग-दर्शनमें भी कहा गया है 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' यह मन एकाग्र होने पर परम पिता परमात्मा से मिला देता है इसी मन से निग्रह करने के लिए ही व्रत, दान, नियम, यम, दम, धर्म, कथा तथा सत्कर्म अनुष्ठित किये जाते हैं। मन का एकाग्र हो जाना ही सबसे बड़ा योग है समाधि है। श्रीमद्भागवत में ११/२३/४६ में कहा गया है—

दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च,
श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि ।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ता,
परोहि योगो मनसः समाधिः ॥

अर्थात् दान अपने धर्म का पालन नियम यम वेदाध्ययन सत्कर्म और ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ व्रत इन सबका अन्तिम फल यही है कि मन एकाग्र हो जाय, भगवान में लग जाय। मन का समाहित हो जाना ही परम योग है।

प्रभु-दर्शन

ओ सिद्ध सवाई वाले 'मोहन'। मुझे करा दो 'प्रभु-दर्शन' ॥
भटक गया हूँ भव-सागर में,
मुझको सच्ची राह दिखादो।
बीच भँवर में फँसी है नैया,
कृपालु 'गुरुवर' पार लगा दो ॥
मेरा सब कुछ तेरे अर्पन। मुझे करा दो प्रभु-दर्शन ॥
मोह निशा से मुझे जगा दो,
काम, क्रोध को दूर भगा दो।
सत्य-प्रेम से नेह लगा दो,
योग-पंथ पर मुझे चला दो ॥
इतना सुपथ करो 'जीवन-धन'। मुझे करा दो प्रभु-दर्शन ॥
जड़-चेतन की गाँठ खोलकर,
अहम्‌भाव को दूर हटा दो।
सत्य-पंथ आलोकित करके,
मेरा जीवन सफल बनादो ॥
हे चरण कमल प्रकाश के दर्पन। मुझे करा दो प्रभु-दर्शन ॥
ओ सिद्ध सवाई वाले 'मोहन'। मुझे करा दो प्रभु-दर्शन ॥

● श्री रामअवतार गुप्त

● श्री नूतन शर्मा, मेरठ

आपसा सद्‌गुरु नहीं देखा

छीन मत तुमसे लेना जी,
याद जो दिल में तुम्हारी है।
याद आते ही रहना जी,
बसे सांसों में रहना जी,
यही बस अरज हमारी है।
अगर पूरी हो जाये तो······
नाथजी सुन ली जाये तो······
यही एक विनती हमारी है ॥१॥

कौन आँसू पोछेगा अब कि जब आँखों में आयेंगे।
कौन रास्ता बतलायेगा कि जब अँधियारे छायेंगे ॥
दूर नजरों से जा बैठे, दूर अपनों से जा बैठे।
खता क्या नाथ हमारी है ? २॥ याद आते······

कहाँ पूजन करने को अब, मेरे सद्‌गुरु हम जायेंगे ?
कहाँ पर नवमीं विजय दशमीं, गुरुपूर्णिमा मनायेंगे ?
बताओ अब किसके चरणों में शीश अपना झुकायेंगे ?
कौन अब थपकी मारेगा, कौन जी भर पुचकारेगा ?
कौन उस तरह दुलारेगा ? प्रभु ये बात बस तुम्हारी है ॥३॥ याद······

रहा नहीं अब जग में कोई, दुःखड़ा कहें जिसको जाकर।
हृदय से हमें लगा ले, जो हमारे दुःख से अकुलाकर ॥
कौन अब लाड़ लड़ायेगा ? कौन छाती से लगायेगा ?
कौन हमें अपनायेगा ? स्वार्थ की दुनिया सारी है ॥४॥ याद······

नहीं देखा कोई तुमसा, प्यार स्वारथ बिन करता हो।
हृदय में हो इतनी ममता, माता-पिता से भी न जिसकी समता ॥
हृदय में समता है और तुम ममता ही ममता हो।
कौन अब 'लल्ला' कह बोलेगा, कौन अब 'देवी' कह बुलायेगा ॥
कौन मुनिया कह दुलारेगा, दौड़कर कौली भर लेगा।
आपकी बात ही न्यारी है ॥५॥ याद आते······

अधम से अधम उबार दिये, और किसमें ये शक्ति है ?
यंत्रवत् 'प्रभुजी' की आज्ञाकारी, कहाँ ऐसी गुरु भक्ति है ?
आपसा सद्‌गुरु नहीं देखा, शिष्य भी आपसा नहीं देखा।
यहाँ देखा वहाँ देखा, आपसा कोई नहीं देखा।
अजब संयोग ये भारी है, प्रभुजी विनती हमारी है ॥६॥ याद आते······

गये हो जब से प्रभुजी तुम, कुशल सम्वाद नहीं आता।
कर-कमलों से अभिमन्त्रित पुष्प प्रसाद नहीं आता॥
कौन अब सुख-दुःख का साथी, रह गया दीपक बिन बाती।
दिन बिन सूर्य रात बिन चन्दा, बेध गई दिल को कटारी है॥
प्रभुजी याद तुम्हारी है॥७॥

योग मे युक्त हुए गुरुवर! सामने बैठे रहते थे।
भस्त्रिका चलने लगती थी, अगर आप देख भी लेते थे॥
समाधि हो जाती थी, अगर आप संकल्प भी कर लेते थे।
पता नहीं क्या-क्या करते थे, किसको कब क्या दे देते थे॥
कौन ऐसा तुम सम उपकारी है॥८॥ प्रभुजी.......

झलक एक जिनको पाने को, देव मुनि सिद्ध तरसते थे।
रूठ हम उनसे जाते थे, मनाया तब वे करते थे॥
समझकर नारायण को नर, खो दिये सब दिन खा-सोकर।
आपके सद्उपदेशों को सुनकर भी हम अपना न सके मूढ़ नर॥
भूल अक्षम्य हमारी है॥९॥ प्रभुजी.......

जियेंगे तुम बिन कैसे हम? जरा यह सोच लिया होता।
विदाई लेने से पहले जरा बतला तो दिया होता॥
लिपट चरणों में जाते हम, तुम्हें सब तरह मनाते हम।
गुरुदेव! बड़ा मन भारी है, प्राण बिन देह हमारी है॥
नदी बिनु वारी है॥१०॥ प्रभुजी ....

पता नहीं कहाँ मिलोगे, या न मिलोगे तुम!
हमारे जैसे पतितों को शरण में लोगे या न लोगे तुम!!
बड़ी मुश्किल से पाया था, तुम्हीं ने तो अपनाया था!
'लल्ला' कहकर अपने पास बुलाया था!!
कहाँ तकदीर हमारी है॥११॥ प्रभुजी.....

कभी मन को छू लेती थी, गुरु महिमा की धुन प्यारी।
कभी जयघोष प्रभुजी का हुआ करता था बलकारी॥
योग का दिव्य नजारा था, सिद्ध सद्गुरु का द्वारा था।
दीन-दुःखी पतितों का गुरुवर तेरा एक सहारा था॥
आज हर सांस उदासी है॥१२॥ प्रभुजी.......

बिना कुछ मुख से मांगे ही सभी कुछ तुमने दे डाला।
पिलाया अमृत जन-जन को, पी लिया खुद विष का प्याला॥
अरे ओ सद्गुरु अविनाशी, जगत्पति घट-घट के वासी।
महाप्रभु शंकर कैलासी, सियापति राम औ वनवासी॥
तू ही तो कृष्ण मुरारी है, तू ही गोवर्धन धारी है॥१३॥ प्रभुजी.......

● श्री द्वारिका प्रसाद शर्मा

आत्म-स्वरूप का विवेचन

[अरूप सत्ता का भी अपना कोई रूप होता है, इसी रहस्य को उजागर किया है विद्वद्वर श्री शर्माजी ने प्रस्तुत लेख में। —सम्पादक]

सृष्टिकर्त्ता की यह सृष्टि कितनी अद्भुत एवं रहस्यमयी है। इस सृष्टि के विषय में यदि कोई व्यक्ति विचार-विश्लेषण करने बैठ जाय, तो रहस्यों की परतें गहराती ही जायेंगी। उसका आदि अथवा अन्त जान पाना अत्यन्त दुरूह तथा दुर्गम ही बना रहेगा। हमारे ऋषियों एवं मनीषियों ने इसलिए इस सृष्टि तथा उसके उपादान कारण प्रकृति रूपी माया को अनिर्वचनीय तथा आद्यन्त रहित की संज्ञा देकर ही विराम लिया है। श्रुतियों ने भी इसी प्रकार 'नेति-नेति' कहकर उस सृष्टि एवं सृष्टिकर्त्ता के विषय में अपने वाग्-विस्तार की इतिश्री की है। दिव्य-दृष्टि सम्पन्न ऋषियों एवं तत्ववेत्ता महर्षियों को तत्तद रूप का जैसे-जैसे अनावरण हो सका, उस-उस स्वरूप को उन्होंने साक्षात्कार कर जन-जन के कल्याण के निमित्त अपनी अमोघवाणी में प्रस्तुत कर दिया है, पर सर्वमहिमातिशायी उस परमेश्वर को कोई कभी यह कहने में सक्षम नहीं हो सका कि वह ऐसे ही है। हाँ, सर्वत्र उनके यशोगान में 'इत्थंभूतगुणो हरिः' कहकर ही उपराम हुआ है।

यह तो निर्विवाद रूप में सत्य है कि उस सृष्टि में यावज्जीव मात्र है उनमें उसी ईश्वर का अंश चैतन्य विशिष्ट आत्मा के रूप में सभी देहों में विराजमान रहता है। प्रस्तुत लेख में हम मात्र अपने विवेच्य विषय पर ही अपना ध्यान केन्द्रित कर विचार करेंगे तथा यह समझने की चेष्टा करेंगे कि वह आत्म-स्वरूप है क्या, तथा हमारे शास्त्रकारों ने स्थल-स्थल पर इसकी व्याख्या व निरूपण समझाने के उद्देश्य से किस प्रकार किया है? यह गूढ़ातिगूढ़ विषय है पर आज श्री गुरुदेव की अन्तःप्रेरणा ने इसी विषय पर लेखनी-चालन में लगा दी है, अतः इसकी यत् किंचित भी विवेचना हो सकी तो श्रम एवं बुद्धि दोनों का उपयोग सार्थक ही कहा जायेगा।

'ईश्वर अंश जीव अविनाशी' की प्रसिद्ध सूक्ति के अनुसार अंश-अंशी का तादात्म्य अनादिकाल से मान्य सिद्धान्त के रूप में स्वीकार्य है। अखिलान्तरात्मा योग-योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने भी भगवद्गीता में स्वयं अपने मुखारविन्द से इसी वाणी की पुष्टि पूर्व करदी है। 'ममैवांशो जीव लोके जीवभूतः सनातनः'। जब यह आत्मा उसी परमात्मा का ही अंश है तो स्वाभाविक है कि इसमें भी, चाहे किसी भी न्यून मात्रा में हो, उन सद्गुणों का समावेश होना चाहिये, जो परमात्मा में विद्यमान हैं।

परमात्मा के विषय में भी गीता में एक श्लोक आता है—

उत्तम पुरुषस्त्वन्य:,
परमात्मेत्युदाहृत: ।
यो लोकत्रयमाविश्य,
बिभर्त्यव्यय ईश्वर: ।।

—गीता १५/१७

जिसका अर्थ यह है कि उत्तम पुरुष अर्थात् आत्मा से ही परमात्मा की संज्ञा दी गई है तथा जो तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर अपना अव्यय रूप अर्थात् अविनाशी रूप धारण है और वह ईश्वर ही है। इस परमात्मा के विषय में हमारे मनीषी शास्त्रकारों ने उनके स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि वह 'सच्चिदानन्द' स्वरूप है, अर्थात् वह सत्, चित् व आनन्द स्वरूप है। सत् कहते हैं जिसका अस्तित्व सर्वदा रहे, चित् कहते हैं जो ज्ञानस्वरूप हो तथा आनन्द उसे कहते हैं जिस का आनन्द स्थायी व शाश्वतरूप में वर्तमान रहे। अत: अंशी में जब यह गुण है तो तो निश्चय रूप से उसके अंश आत्मा में इन गुणों का स्वाभाविक रूप से समावेश हो जाता है। आत्मा भी अतएव नित्य वर्तमान रहने वाला ज्ञान स्वरूप तथा आनन्दमय है। श्रुति भगवती के अनुसार 'रसो वै स:', इसी की ओर संकेत है कि वह आत्मा। परमात्मा आनन्दमय है।

इस सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में बहुधा यह भगवती श्रुति में कहा गया है कि सत्य संकल्प भगवान ने अपने संकल्प मात्र से सृष्टि का निर्माण किया और उसका निर्माण कर स्वयं ही वे उसमें अन्तर्निविष्ट भी हो गये अर्थात् उसमें स्वयं समा गये। गीता में भगवद् वाक्य भी कुछ इसी प्रकार है—

मम योनिर्महद् ब्रह्म,
तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभव: सर्वभूतानां
ततो भवति भारत ।।

—गीता १४/३

अर्थात् महद् ब्रह्म मेरी योनि है जिसमें मैं गर्भ का आधान करता हूं और हे भरतवंशी अर्जुन! जिससे समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है। इसे ही रूपान्तरित कर 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' अर्थात् उसके एक होते हुए भी बहु प्रकार से व्यवहृत किया जाता है। इस समस्त ब्रह्माण्ड में जो कुछ दृश्य जात है वह नाना विधि रूप उसी परब्रह्म के अनेकानेक रूप ही तो है। उसी प्रकार जब समस्त भूतों की उत्पत्ति उस परमब्रह्म से हुई है तो वह उसी अंशी के अंशरूप में ही तो विद्यमान हुए और जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अंश-अंशी का अन्योन्य सम्बन्ध होने के कारण जो गुण अंशी के हुए वे सब न्यूनतया अंश में भी आ ही गये। इसीलिए यह भी उक्ति अपने में यथार्थ रूप में चरितार्थ होती है—'यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे।' जो इस पिण्ड अथवा शरीर में सूक्ष्मरूप में है वह विराट् रूप में ब्रह्माण्ड में दृष्टिगोचर हो रहा है। अंशी-अंश का सम्बन्ध यहाँ भी अक्षुण्ण रूप में प्रतिपादित हुआ है।

जैसा कि हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं कि सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा के अंश उस आत्मा में स्वाभाविक रूप तीनों गुणों का समावेश है। यह आत्मा ही सत्, ज्ञानमय तथा आनन्दमय है। भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने जहाँ आत्मा की व्याख्या करते हुए कहा है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि,
नैनं दहति पावक: ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो,
न शोषयति मारुत: ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽय,
मक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्य: सर्वगत: स्थाणु-
रचलोऽयं सनातन: ॥

—गीता २/२३-२४

इसका अर्थ यह है कि इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, इसे अग्नि जला नहीं सकती, इसे पानी गीला नहीं कर सकता, इसे वायु सुखा नहीं सकती । अगले श्लोक में उसे ही सूक्ष्मता में भगवान ने कह दिया है कि यह आत्मा अच्छेद्य है (अर्थात् काटी नहीं जा सकती) यह आत्मा अदाह्य है (अर्थात् जलाई नहीं जा सकती) यह आत्मा अक्लेद्य है (अर्थात् इसे गीला नहीं किया जा सकता), यह आत्मा अशोष्य है, (अर्थात् इसे सुखाया नहीं जा सकता) यह नित्य वर्तमान रहता है, यह सर्वत्र व्याप्त है, स्थिर है, चलायमान नहीं है तथा सदा से एकरूप है ।

इतनी विशेषताओं के प्रकट करने के पश्चात् भगवान श्रीकृष्ण ने अपने मुखारविन्द से स्वयं यह कहा है अगले श्लोक में—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्य: ।
आश्चर्यं वच्चैनमन्य: शृणोति,
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥

—गीता २/२९

अर्थात् इस आत्मा को कोई तो आश्चर्य की नाई देखा करता है—दूसरा कोई इसे आश्चर्य की नाई कहा करता है, इससे भी दूसरा कोई आश्चर्य की नाई इसे सुना करता है । सुनने के पश्चात् भी कोई इसे सही रूप में नहीं जान पाया है कि यह यथार्थ में है क्या ? भगवद् वचनों से इतना स्पष्ट हो जाता है कि जिस-जिसने जब-जब, जिस-जिस रूप में इस आत्मा को समझने की चेष्टा की है तो उस वक्त इसे समझने की नीयत से उसकी आँखें फटी-सी रह गयीं, मुँह खुला का खुला रह गया । कान सुनने के पश्चात् भी जड़वत् बधिर से हो गये, सुनने के बाद भी कोई इसे जान सका हो, ऐसा कोई नहीं है । यह परमाद्भुत है इस आत्मा के विषय में । देखने, समझने और सुनने के बाद भी कोई इसे जान नहीं पाया ।

हमारा यह शरीर सप्त धातुओं से बना पिण्ड है, इसे हम, आप, सब जानते हैं । इस में प्राण का संचार होने से हमारा शरीर दीप्तिमान व कान्तिमय हो उठता है । जहाँ उस परम प्रभु के वरदान स्वरूप इस प्राण-शक्ति का ह्रास हुआ नहीं कि यह शिवस्वरूप कलेवर शव ही हो जाता है । जिस चैतन्य सत्ता की विद्यमानता ने इसे 'शिवोऽहम्' के सुन्दर पाठ का ज्ञान कराया वही प्राण विहीन हो जाने पर दूसरों द्वारा 'शवोऽहम्' की संज्ञा का पात्र बन जाया करता है ।

अण् गत्यर्थक धातु से प्राण शब्द की व्युत्पत्ति होती है जिसका अर्थ गतिमयता है । प्राण का संचार ही शरीर को गतिशील बनाये रखता है । जहाँ प्राणराहित्य हुआ नहीं कि अगति आई और यह दिव्य कान्ति युक्त देह एक मिट्टी के लोथे के समान धरा पर लुण्ठित होती हुई शवाकार हो जाती है । प्राण ही इसके मूल में चैतन्य विशिष्ट सत्ता से अमूर्त गतिमत्ता प्रदान किये हुए है । उसी से रक्त संचार, उसी से स्फूर्ति, उसी से वाणी की मुखरता, उसी से समझने, सोचने, देखने,

सब प्रकार के कार्य करने की क्षमता दृष्टि-गोचर हुआ करती है।

यद्यपि प्राण ही स्वयं आत्मा नहीं है तथापि जैसाकि मैंने कहा है चैतन्य विशिष्ट अंश से युक्त ही प्राण आत्मरूप धारणा कर आत्म-सदृश प्रतीत होता है। लोक व्यवहार में इसे ही शरीर में आत्मा एक प्रधान तत्व के रूप में कल्पित किये रहते हैं और जो अंशत है भी।

आत्मा के स्वरूप को समझने लिए हमें पुनः भगवद्वचनों को देखना होगा। गीता में भगवन्मुखारविन्द ने कहा है—

इन्द्रियाणिपराण्याहु-

रिन्द्रियेभ्यः परं मनः।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो

बुद्धेः परतस्तु सः॥

अर्थात् इन्द्रियों को श्रेष्ठ कहा गया है। इन इन्द्रियों से श्रेष्ठ मन माना गया है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ कही जाती है और जो बुद्धि से भी परे है और जो सर्वश्रेष्ठ है वह आत्मा है वस्तुतः देखा जाय तो समझने के लिए ही यह श्रेष्ठ श्रेष्ठतर व श्रेष्ठतम स्वरूप मात्र इस बात को बताने के लिए किया गया है कि आत्मा ही सर्वोपरि है। यह सब आत्मा के अन्तर्गत ही हैं। क्योंकि इन्द्रियों का मन से या बुद्धि से अस्तित्व चैतन्यरूप आत्मा के अभाव में कुछ है भी तो नहीं। आत्मा की सत्ता से ही इनकी सत्ता का आभास या बोध हम किया करते हैं। इन्द्रियाँ तो एक निमित्त कारण हैं। मन तथा बुद्धि भी उसी प्रकार से से निमित्त बने हुए हैं। सारा खेल तो आत्मा से ही है। वह अगर माइनस कर दिया जाय तो बेचारी ये जड इन्द्रियाँ किस काम की। यह मन क्या कर सकता है, यह बुद्धि भी किस प्रयोग की रह जाती है। आत्मा ही प्रकाशक है, आत्मा ही नियन्त्रक है। आत्मा के प्रकाश से ही ये सब गतिशील, छविशील, रतिशील व क्रियाशील प्रतीत होते हैं। भग-वद् गीता में इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण ने अपने मुखारविन्दु से 'विभूतियोग' नामक दसवें अध्याय में जहाँ अपनी विभूतियों का यत्किञ्चित प्रसंख्यान किया है वहाँ सर्वप्रथम यही श्लोक कहा है—

अहमात्मा गुडाकेश

सर्व भूताशयास्थितः।

अर्थात् हे निद्राजयी अर्जुन! मैं ही सब भूतों के अन्दर में स्थित आत्मा के रूप में विद्यमान हूँ। यह आत्मतत्त्व परम गहन है। हाँ, श्री गुरुदेव, जिन पर अहेतुकी कृपा कर देते हैं वह यत्किंचित आभास पाकर इसके यथार्थ स्वरूप को समझने में सफल हो जाते हैं और उनका जीवन धन्य व कृतकृत्य हो जाता है कोऽहं को सोऽहं पढ़ाने वाले वे गुरु-देव धन्य हैं, उन्हीं की कृपा दृष्टि बरस रही है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने श्रीरामचरित मानस में स्पष्ट रूप से कह दिया है कि—

'सोई जानइ जेहु देहु जनाई।

जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई॥

उसे जानने के पश्चात् फिर कुछ जानने को शेष नहीं रह जाता। सब कुछ हस्तामल-कवत् स्पष्ट हो जाता है। इसीलिए श्रुति भगवती बारम्बार हमें चेताती है, प्रबोध कराती है—

आत्मा वा अरे श्रोतव्यो,

मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यः।

इसी सन्दर्भ में निम्नांकित श्लोक भी कितना सटीक है—

अविज्ञाते परे तत्वे,

शास्त्राधीतिस्तु निष्फला।

विज्ञाते हि परे तत्वे,

शास्त्राधीतिस्तु निष्फला॥

डॉ० श्री गणेश नारायण चौहान

उपयोगी द्रव्य—'नींबू'
(व्यवहार और उपयोग)

नीबू का सेवन हर मौसम में किया जा सकता है। यह बदलते मौसम के अनुरूप ही अपने गुणों को समायोजित कर मौसमी दोषों से बचाता है। नीबू का मुख्य काम शरीर के विषों को नष्ट कर उन्हें बाहर निकालना है।

शक्तिवर्धक—उबलते हुए पानी में नीबू निचोड़कर पीते रहने से शरीर के अङ्ग-अङ्ग नई शक्ति अनुभव होने लगती है। नेत्र-ज्योति तेज हो जाती है। मानसिक दुर्बलता, सिरदर्द पुट्ठों में झटके लगना बन्द हो जाता है। अधिक काम से भी थकावट नहीं आती। इस में बिना शक्कर और नमक मिलाये छोटे-छोटे घूंटों से पीना चाहिए। चाहें तो शहद की दो चम्मच मिला सकते हैं। शक्कर और नमक का अधिक सेवन स्वास्थ्यके लिए हानिकारक है। असाध्य रोगों में लम्बे समय तक उपवास रखने के बाद खाना नहीं दिया जाता परन्तु पानी में नीबू का रस मिलाकर बार-बार पीते रहने से रोगी के दूषित पदार्थ निकल जाते हैं और उसके रोग दूर हो जाते हैं। इसके नियमित सेवन से स्फूर्ति रहती है। पथरी के होने पर नीबू का सेवन नहीं करना चाहिए।

विटामिन 'सी'—विभिन्न रोगों से बचने स्वास्थ्य और शक्ति प्राप्त करने के लिए नीबू का रस विटामिन 'सी' का भण्डार है। विटामिन 'सी' शरीर में घट जाने से स्कर्वी, एनीमिया, हड्डी के जोड़ों की पीड़ा, रक्तस्राव, दाँतों के रोग, पाइरिया, कुकरखाँसी, दमा आदि रोग हो जाते हैं। नीबू के सेवन से इनमें लाभ होता है तथा सल्फाड्रग्स के सेवन से उत्पन्न दोष भी दूर हो जाते हैं।

रक्तहीनता—जिनके शरीर में रक्त की कमी हो, शरीर दिन पर दिन गिरता जाय, उन्हें नीबू और टमाटर के रस का भोजन लाभ पहुँचाता है।

आयु बढ़ना—प्रो० स्वामोल के अनुसार यदि थोड़ा-सा नीबू नित्य सेवन किया जावे तो आयु बढ़ती है। इसका अधिक सेवन हानिकारक है।

पाचन संस्थान के रोग—यदि आपके पाचन अङ्ग कार्य नहीं करते, भोजन नहीं पचता, पेट में गैस के कारण हृदय पर बोझ अनुभव होता है, पेट फूल जाता है, रात को नींद नहीं आती, भोजन भली प्रकार नहीं पचता तो एक गिलास गर्म पानी में एक नीबू का रस मिलाकर बार-बार पीते रहने से पाचन-अङ्ग और शरीर की धुलाई हो जाती है। रक्त और शरीर के तमाम विषैले पदार्थ मूत्र द्वारा निकल जाते हैं। कुछ ही दिनों में शरीर में नई स्फूर्ति और शक्ति अनुभव होने

लगती है। अपच होने पर नीबू की फाँक पर नमक डालकर गर्म करके चूसने से खाना सरलता से पच जाता है। यकृत के समस्त रोगों में नीबू लाभदायक है।

पेट दर्द—(१) १२ ग्राम नीबू का रस, ६ ग्राम अदरक का रस और ६ ग्राम शहद मिलाकर पीने से पेट का दर्द ठीक हो जाता है। (२) नीबू की फाँक में काला नमक, काली मिर्च और जीरा भरकर गर्म करके चूसने से पेट का दर्द ठीक हो जाता है, कीड़े (कृमि) नष्ट हो जाते हैं।

भूख न लगना—नीबू और अदरक की चटनी का सेवन करें। मौसम के अनुसार धनिये की पत्ती भी मिला सकते हैं।

भूख न लगे, अजीर्ण हो, खट्टी डकार आती हो तो (१) एक नीबू आधा गिलास पानी में निचोड़कर शक्कर मिला कर नित्य पीयें। (२) एक चम्मच अदरक का रस, नीबू सेंधा नमक एक गिलास पानी में मिलाकर पियें।

कब्ज—(१) नीबू का रस गर्म पानी के साथ रात्रि में लेने से दस्त खुल कर आता है। (२) नीबू का रस और शक्कर प्रत्येक १२ ग्राम एक गिलास पानी में मिलाकर रात को पीने से कुछ ही दिनों में पुराने से पुराना कब्ज दूर हो जाता है।

दस्त—(१) दूध में नीबू निचोड़कर पीने से लाभ होता है। दस्त में मरोड़ हो, आँव आती हो तो नीबू का उपयोग करें। एक नीबू का रस एक कप पानी में मिलाकर पिलायें। इसी प्रकार एक दिन में पाँच बार दें। इसमें दस्त बन्द हो जाते हैं। (२) एक बूँद नीबू का रस, एक चम्मच पानी जरा-सा नमक और शक्कर मिलाकर पाँच बार नित्य पीने से दस्त बन्द हो जाते हैं।

नाखून न बढ़ना—(१) यदि आपके नाखून न बढ़ते हों तो गर्म पानी में नीबू निचोड़कर उसमें पाँच मिनट तक अँगुलियाँ रखें, फिर तुरन्त ही हाथ ठण्डे पानी में रखें। इससे नाखून बढ़ने लगेंगे। (२) नाखूनों पर नीबू का रस लगाने से बहुत मजबूत और सुन्दर रहते हैं। अँगुलियों को धोकर उनके अग्रभाग नीबू में रगड़कर सुखा लें।

संग्रहणी—नीबू को बीच में से काट कर मूँग के बराबर इसमें अफीम डालकर धागे से बाँध कर आँच पर लटका कर सेंक कर नित्य तीन दिन चूसें।

वायुगोला—६ ग्राम नीबू का रस गर्म पानी में मिला कर पिलाने से बहुत आराम होता है।

पेचिश—(१) आधा सेर ताजा पानी में नीबू निचोड़ कर दिन में तीन बार पीने से पेचिश में लाभ होता है। दूध में नीबू निचोड़ कर पीने से भी लाभ होता है। (२) मिट्टी के बर्तन (सिकोरा) में २५० ग्राम दूध, स्वादानुसार शक्कर, आधा नीबू निचोड़ कर मिला कर पीयें। इससे पेट में हलकी सी जलन होगी और खून के दस्त बन्द हो जायेंगे।

उलटी—जी मिचलाना आरम्भ होते ही नीबू का सेवन करना चाहिए। इससे उल्टी नहीं होती। नीबू में शक्कर और काली मिर्च दोनों भरकर चूसने से भी उल्टी बन्द होती है। नीबू में इलायची भरकर चूसने से भी लाभ होता है। उल्टी में नीबू को गरम नहीं करना चाहिए।

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

आत्म-बोधः
(शांकर विचार)

तपोभिः क्षीण-पापानां शान्तानां वीत-रागिणाम् ।
मुमुक्षूणां अपेक्ष्यो ऽयं आत्म-बोधो विधीयते ॥

अनेक प्रकार के तप करके जिन्होंने पापों को क्षीण किया है, धो डाला है, ऐसे शान्त, वीतरागी मुमुक्षुओं के लिए यह आत्मबोध किया जा रहा है।

बोधो ऽन्य-साधनेभ्यो हि साक्षात् मोक्षैक-साधनम् ।
पाकस्य वह्निवत् ज्ञानं विना मोक्षो न सिध्यति ॥

अन्य साधनों की तुलना में ज्ञान ही मोक्ष का एकमात्र साक्षात् साधन है। रसोई के लिए अग्नि (जैसे अपरिहार्य साधन है) वैसे ही ज्ञान के बिना मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती।

अज्ञान-कलुषं जीवं ज्ञानाभ्यासाद् विनिर्मलम् ।
कृत्वा ज्ञानं स्वयं नश्येत् जलं कतक-रेणुवत् ॥

अज्ञान के कारण कलुषित, अस्वच्छ हुए जीव को ज्ञानाभ्यास से निर्मल कर ज्ञान स्वयं खत्म हो जाता है। जैसे निर्मली का बीज पानी को शुद्ध कर स्वयं खत्म हो जाता है।

संसारः स्वप्न-तुल्यो हि रागद्वेषादि-संकुलः ।
स्वकाले सत्यवद् भाति प्रबोधे सत्यसद् भवेत् ॥

राग-द्वेषादि से भरा हुआ संसार स्वप्न की तरह अपने काल में (जागृ अवस्था में) सत्य भासित होता है, प्रबोध (जागृति, ज्ञान) होने पर वह असत् अर्थात् मिथ्या साबित होगा।

पंचकोशादि-योगेन तत् तन्-मय इवं स्थितः ।
शुद्धात्मा नीलवस्त्रादि-योगेन स्फटिको यथा ॥

नीले या दूसरे रंगों के वस्त्रों के कारण स्फटिक स्वयं स्वच्छ होते हुए भी अलग-अलग रंगों का दीखता है। जैसे आत्मा स्वयं शुद्ध होते हुए भी पंचकोषों के संयोग (वेष्टन) के कारण उस-उस आकार-प्रकार का दीखता है।

वपुस् तुषादिभिः कोशैर् युक्तं युक्त्यवघाततः ।
आत्मानं आन्तरं शुद्धं विविच्यात् तंदुलं यथा ।।

जैसे चावल के दाने पर छिलका होता है (एक के ऊपर एक पुट इस तरह), वह युक्ति से कूटकर अन्दर का स्वच्छ चावल अलग निकाल दिया जाय, वैसे युक्ति से (विवेक के द्वारा) अन्तर में शुद्ध ऐसे आत्मा को, पंचकोषरूपी पुटों वाले शरीररूपी छिलके से अलग किया जाय।

चित्ताधिकरणम्

यस्य चित्तं निरविषयं हृदयं यस्य शीतलम् ।
तस्य मित्रं जगत् सर्वं तस्य मुक्तिः कर-स्थिता ।।

जिसका चित्त विषय-मुक्त है और जिसका हृदय शीतल-शान्त है; सारी दुनिया उसकी मित्र है, मुक्ति उसके हाथ में रहती है।

हित-परिमित-भोजी नित्यमेकांत-सेवी
सकृदुचित-हितोक्तिः स्वल्प-निद्रा-विहारः
अनुनियमन-शीलो यो भजत्युक्त-काले
स लभत इह शीघ्रं साधुचित्त-प्रसादम्

जो हितकर, परमित भोजन करता है, नित्य एकान्त में रहता है, उचित एवं हित की बात केवल एक बार बोलता है, नपी-तुली निद्रा लेता है, नपा-तुला विहार करता है, स्वभावतः स्वयं अपना नियमन करता है, (और) निश्चित समय पर भजन करता है उसे इस संसार में शीघ्र उत्तम चित्त-प्रसन्नता प्राप्त होती है।

चित्ते सत्त्वोत्पत्तौ तडिदिव बोधोदयो भवति ।
तस्येव स स्थिरः स्यात् यदि चित्तं शुद्धिरुपयाति ।।

चित्त में सत्वगुण की उत्पत्ति होने पर बिजली जैसे ज्ञान का उदय होता है। लेकिन स्थिर तो वह तभी होगा, जब चित्त शुद्ध हो।

जीवन-पथ

★ दूसरों को नीचा दिखाकर अपने दृष्टिकोण को प्रतिपादित करने का प्रयत्न हमें अवश्य छोड़ देना चाहिए। अपने विरोधी को निकम्मा समझकर उसे उपेक्षित नहीं करना है; बल्कि उसके प्रति सहानुभूति और समझदारी अपेक्षित है।

● डॉ० राधाकृष्णन्

डॉ० विनय मोहन शर्मा

शक्तिदायिनी मधुर नींद

[योगदर्शन में निद्रा को एक वृत्ति की संज्ञा दी गई है। इसी वृत्ति की गुणवत्ता पर प्रकाश डाला है सुविख्यात, साहित्यकार डा० विनयमोहन शर्मा ने अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत लेख में। —सम्पादक]

नींद के विषय में कई तरह के प्राकृतिक चमत्कार देखने को मिलते हैं। कोई आठ घण्टे सोकर भी अपने को थका हुआ अनुभव करते हैं, कोई सालों तक पलक न मारकर भी अपने को ताजा समझते हैं। हमारे यहाँ कुम्भकर्ण की लगातार छः महीने सोने की कहानी हिन्दू घरों में काफी प्रचलित है। यों तो ६० वर्ष जीने वाला व्यक्ति भी २० साल की नींद सो लेता है पर उसकी शोहरत नहीं मचती, क्योंकि उसने २० साल एक ही नींद में व्यतीत नहीं किये। स्व० एडीसन जैसे व्यक्ति ६० वर्ष में ज्यादा से ज्यादा १५ वर्ष सोते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे भी पाये जाते हैं जो जागते हुए भी सोये रहते हैं।

नींद क्या है ?

इस प्रश्न का उत्तर वैज्ञानिक देकर भी नहीं दे सके हैं। जब हम सोते हैं तब शरीर विस्मृत-सा और मस्तिष्क बहुत हल्का प्रतीत होता है। रक्त-घटक मस्तिष्क से रक्त खींचकर शिथिल से पड़ जाते हैं। सोते समय मस्तिष्क में बहुत ही कम रक्त रह जाता है। नींद को सबसे अधिक शक्तिदायी और ताजगी देने वाली कहा गया है। परन्तु सभी व्यक्तियों के लिए समान मात्रा में नींद की आवश्यकता नहीं होती।

कुछ तो ऐसे भी व्यक्ति हैं जिन्हें नींद की कतई आवश्यकता अनुभव नहीं होती। इंगलैण्ड के नारिंगशायर वर्कशाप नामक स्थान में एक व्यक्ति ने जिसके चेहरे पर ललाई झलक रही है और म्युनिसिपैलिटी में सड़क की बत्तियाँ जलाने का काम करता था, बीस वर्ष से एक झपकी भी नहीं ली है। इसका कहना है, मुझे न सोने में जरा भी थकान नहीं मालूम होती, मैं तो अपने जीवन भर बिस्तरे पर लेटने की इच्छा नहीं करता। सुबह उठते ही जब हमें शरीर में फुर्ती नहीं मालूम होती तो हम यह अनुमान लगाते हैं कि या तो हमें अच्छी नींद नहीं आई और यदि आई है तो वह गहरी नहीं थी।

डाए डोनल्ड लेयार्ड ने बीस वर्ष तक नींद के विषय में अध्ययन किया है। उनका कहना है कि अमरीका में ५० फीसदी व्यक्ति गहरी नींद नहीं सोते।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक स्व० थामस एडीसन का नाम उन आश्चर्यजनक पुरुषों में लिया जाता है जिन्हें बहुत ही कम नींद की आवश्यकता होती थी। पर एडीसन के विषय में यह कहा जाता है कि वे नींद अपनी इच्छा के अनुसार कभी भी ग्रहण कर लेते थे। ठीक उसी तरह जिस तरह नल से अपनी इच्छानुसार जब चाहें तब पानी ले लेते हैं। एडीसन स्वयं कहते थे कि यह बात नहीं है कि मैं सोता ही नहीं हूँ। मैं तो जब चाहता हूँ तभी सो सकता हूँ। इस तरह ६० घण्टे लगातार काम करके

वे लगातार १९ घण्टे सो सकते थे, और जब उठते, फुर्ती और ताजगी उनका साथ देती। अन्य अवसरों पर वे 'कुत्ते की नींद' सो लेते थे।

क्षण में निद्रित, क्षण में जाग्रत। थामस डेविस नामक पत्रकार की यह आदत थी कि वे ९ बजे रात को सोते और १ बजे उठते, उसके बाद तीन-चार बजे तक काम करते रहते और सो जाते थे। फिर सुबह ७ बजे उठ जाते थे। और जब उठते, ताजगी मालूम होने लगती। ब्रिटेनके लायड जार्ज जब महायुद्ध से लौटे तो उनका स्वास्थ्य इतना अच्छा था कि ताज्जुब होता था।

प्रेस प्रतिनिधि से आपने कहा था, "दिन में जब कभी मैं थका अनुभव करता, पन्द्रह मिनट सो लेता। मैंने अपना ऐसा अभ्यास बना लिया था कि इस तरह जब मैं चाहता, सो सकता था। मैं इच्छानुसार शीघ्र हो बिस्तर पर नींद में हो जाता और १५–२० मिनट तक गहरी निद्रा में मग्न रहकर उठ जाता" इसी तरह महात्मा गाँधी, नेपोलियन और एलेक्जेण्डर भी इच्छानुसार सोते और जग सकते थे। कुछ व्यक्ति आगे जगने के लिए पहले ही कुछ घण्टे ज्यादा सो लेते हैं। डेफ्यू नामक व्यक्ति रात-रात भर जागता रहता है।

जनता समझती है, वह सोता ही नहीं, लेकिन वह दिन को ही रात की कसर निकाल लेता है। कालेजों में रात भर जागरण करने वाले कई छात्रों की भी यही आदत होती है। नींद के विषय में तरह-तरह की धारणायें प्रचलित हैं। बायीं ओर करवट लेकर सोने से हृदय पर दबाव पड़ता है, यह धारणा सर्वथा गलत है। हृदय केवल बायीं ओर ही नहीं है वह छाती के मध्य की ओर भी है। व्यक्ति किसी भी करवट सोकर दोनों तरफ आराम से सोता है। वह नींद में प्रति घण्टे दस-बारह बार करवटें बदलता है।

नींद बुलाने के उपाय

नींद को बुलाने के लिए कई उपाय हैं। पहले अपने कमरे को अच्छी तरह सजाओ, कमरे में हरा और नीले रंग का सामान अधिकता से होना चाहिए। यदि मन में कोई अशान्ति विचार घर किये होता है तो नींद नहीं आ पाती। डाक्टर लायड के पास एक ऐसा अनिद्र रोगी आया जिसको महीनों गहरी नींद नहीं आई थी। कारण पूछने पर पता चला कि एक रात को उसने जब अपनी प्रेमिका को फोन पर बुलाया तो जवाब आया वह अपने किसी प्रेमी मित्र के साथ घूमने गयी हुई है। बड़ी मुश्किल से उसे नींद तो आई पर रात में उसने सौ-दो-सौ करवटें बदलीं।

हालांकि उसे निश्चित समय तक सोने दिया गया था पर उसकी नींद गहरी न होने से वह सोने का लाभ नहीं उठा सका। जो व्यक्ति गहरी नींद नहीं सोता उसके स्वभाव में चिड़-चिड़ापन साफ झलक उठता है। संगीत सुनने से भी नींद अच्छी आती है। इसी तरह घूमकर सोना भी लाभदायक है।

● श्री पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे

संसार-योग

संसार जैसा कुछ दिखाई देता है वैसा नहीं है, यह है आनन्दमय, दिखायी देता है दुःखमय। यही तो माया है और यह माया हमारे एक-एक रग और रेशे में फैली हुई है। कारण से संसार की प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक सम्बन्ध, प्रत्येक घटना जैसी है वैसी नहीं दिखाई देती, कुछ भिन्न ही प्रकार की दिखाई देती है।

हमारा शरीर पंचमहाभूतों से बना है और पंचमहाभूतों का अंश है। पर दिखाई ऐसे देता है मानो पंचमहाभूत कोई दूसरी चीज है और यह शरीर कोई दूसरी चीज। इस पंचमहाभूतात्मक शरीर को जैसा हम समझते हैं वैसा नहीं है, इसका कोई भी भाग इन पंचमहाभूतों से पृथक् नहीं है। हमारे शरीर में जो आकाश है, वह ऊपर के महाकाश में सदा मिला हुआ है। हमारे शरीर में जो पृथ्वी का अंश है, वह सदा संसार की पृथ्वी से अभिन्नतया मिला हुआ है। यह शरीर जिस पृथ्वी पर है उस पृथ्वी से एक क्षण के लिए भी कभी पृथक नहीं हो सकता। योगियों के शरीर पृथ्वी से अलग होते हैं, पर जिस अवस्था में होते हैं उस अवस्था में यह पृथ्वी भी अपने पार्थिव रूप से अलग होती है। हमें जल दिखाई देता है पृथ्वी में, पर वास्तव में पृथ्वी जल में है और जल अग्नि के भीतर है जो एक असम्भव बात मालूम होती है।

इसी प्रकार अग्नि वायु के भीतर है और और वायु आकाश के भीतर। हमें घट में घट की मिट्टी आकाश को घेरे हुई दिखाई देती है, पर यथार्थ में आकाश घट को घेरे हुए है, यह लम्बी-चौड़ी सम्पूर्ण पृथ्वी एक महान जलार्णव के बीच में एक कौड़ी के समान कही गई है। यह महान जलार्णव अग्नि के, उससे भी बड़े आग्नेयार्णव के भीतर एक सरोवर-सा है और यह आग्नेयार्णव उससे भी कई गुना बड़े वायव्य महार्णव के भीतर है और यह वायव्य महार्णव उससे अनन्तगुण महान आकाशार्णव के भीतर है।

यह आकाशार्णव अविद्या नाम्नी त्रिगुणात्मिका अपरा प्रकृति के भीतर है और यह अपरा प्रकृति परा प्रकृति के भीतर है और यह परा प्रकृति परमात्मा के भीतर है। परमात्मा सारे संसार को घेरे हुए है, इनके भीतर वे सब महार्णव हैं और इन सबसे घिरा हुआ हमारा यह संसार है। यह भगवान से घिरा हुआ है, इसका एक-एक अणु भगवान

के भीतर रहते हुए भी हम लोग आनन्द के लिए छटपटा रहे हैं ! आखिर यह अज्ञान भी कहाँ से आया ? इसका उत्तर यही है कि यह हमारे अन्दर से आया।

"सर्वव्यापक भगवान में जो-जो कुछ है उस-उसमें भी स्वभावतः ही वह चैतन्य है जिसमें एक होते हुए भी बहु होने की शक्ति है" और पूर्ण से पृथक् होकर पृथक् रूप से से घिरा है और भगवान आनन्दमय है। इसलिये यह संसार आनन्दमय के सिवा और कुछ नहीं हो सकता।

पर यह दिखायी देता है दुःखमय। इसका कारण क्या है ? इसका कारण है माया अर्थात् हमारा अज्ञान—हमारा यह न देख-पाना कि यह संसार आनन्दमय भगवान के भीतर है। जैसे समुद्र के भीतर मछली हो और वह जल के लिए छटपटाये, वैसी ही अवस्था हम लोगों की है कि आनन्द महार्णव बहु होने की जो इच्छा है उस इच्छा से चैतन्य वह अंश मन से घिर जाता है। यह जो घिर जाना है इसी को अहंकार कहते हैं। अहंकार और अहकार रूप में जब यह प्रकट होता है तब चैतन्य का वह अपृथक होने पर भी पृथक बना हुआ अंश बद्ध-जीव हो जाता है। उस बद्धता से अपना वास्तविक स्वरूप वह भूल जाता है।

आत्मस्वरूप की इस विस्मृति के कारण वह बाह्य स्वरूप—सारे संसार और संसारके प्रत्येक पदार्थ को इसी आत्म विस्मृति के पैमाने से देखता है और उसे तब संसार जैसा कुछ वास्तव में वैसा नहीं दिखायी देता—आनन्द-मय संसार उसे दुःखमय दिखायी देता है और इस दुःखमय संसार में वह आनन्द को ढूंढ़ता है। अपने आपको जो भूला हुआ है वह दूसरों को कैसे पहचान सकता है और जो चीज वह चाहता है, जिसकी खोज में वह भटकता है, वह भी उसे ऐसे भटकने से कैसे मिल सकती है।

संसार में जितने उद्योग हो रहे हैं वे सब आनन्द की खोज के ही उद्योग हैं, चाहे वह बच्चों को स्कूलों में पढ़ाना हो या मैदान में खेलना, युवकों का ब्याह रचना हो या संतान की आशा करना। धन कमाना हो या नाम कमाना, साँप-बिच्छू और सिंह-व्याघ्रसे डरना हो या उन्हें मार डालने की फिक्र करना, मृत्यु से भागना हो या मृत्यु के वश होना, युद्ध हारना हो या युद्ध-जीतना, राज्यक्रान्ति हो या परराष्ट्र पर आक्रमण करना, व्यापार की दूकान हो या कल-कारखाना। ये सब बद्ध-जीवों के आनन्द की खोज के उद्योग हैं। ये उद्योग अच्छे-बुरे कुछ नहीं हैं, इनसे यदि आनन्द मिल जाय तो अच्छे हैं, न मिले तो बुरे हैं।

पर जब तक आत्मविस्मृति बनी हुई है, हम अपने आपको भूले हुये हैं, तब तक पह-चान भी भूले हुये हैं, रास्ता भी भूले हुये हैं और इसलिये फल भी भूला हुआ ही होता है। इसीलिए यह देखा जाता है कि आत्म-विस्मृत कोई भी मनुष्य संसार में सुखी नहीं हुआ। ऐसे सब प्राणियों के जीवनों का अन्तिम अनुभव यही रहा कि जीवन व्यर्थ ही बीता, आनन्द की खोज में कहाँ-कहाँ भटके, पर आनन्द मिला नहीं, उलटे दुःख ही बढ़ता गया। इसीलिए यह कहा जाता है कि संसार

दुःखमय है, पर दुःखमय है पूर्ण से पृथक् होने के कारण—पूर्ण से वियोग होने के कारण। बन्द कोठरी में, अखिल वायुमण्डल से पृथक होते ही, जैसे हमारे प्राण घबराने लगते हैं वैसे ही पूर्ण जो श्रीभगवान हैं उनसे पृथक होते ही सर्वाङ्ग दुःख से व्याप्त हो जाता है। पूर्ण से अपूर्ण का यह वियोग है—संसार का सारा दुःख विरह-दुःख है। संसार का प्रत्येक दुःखी प्राणी विरही है, चाहे उसके दुःख का कोई भी प्रकार हो। प्रत्येक दुःख भगवान का विरह है।

आत्मविस्मृति के जीवन में कुछ समय के लिए जो सुख मिलता है जिससे कभी-कभी मनुष्य उद्धत और उन्मत्त भी हो जाते हैं वह तो दुःख का बड़ा ही भयङ्कर स्वरूप है। उस से अच्छी दशा उन लोगों की है जो बेचारे दुःखी हैं, क्योंकि वे उन्मत्त नहीं हैं और संसार को दुःखमय मानकर संसार स्वामी को कुछ सुख लेते हैं। पर इनसे भी अच्छे संभवतः वे लोग हैं जो संसार के दुःखमात्र को भगवान के विरह का दुःख मानते हैं, क्योंकि सच्ची बात यही है कि संसार में जो दुःख है वह भगवान का विरह ही है। विरही सदा अपने प्रियतम का चिन्तन करता रहता है और चिन्तन ही अपूर्ण के पूर्ण से मिलन का मार्ग है।

यह दुःखमय संसार अपने दुःख से यही सूचित करता है कि वह आनन्दमय भगवान की ओर जा रहा है और यही कारण है कि यह विश्वजननी अपने उन्हीं सुपुत्रों को धन्य मानती है जो इस संसार में उत्पन्न होकर भगवत्साक्षात्कार करके इस संसार का दुःख हरते हैं और इसलिए ऐसे महात्मा 'सर्वभूतहिते रताः' कहाते हैं। भूतमात्र का कल्याण यही है कि भगवान से जो उसका वियोग हो गया सो फिर भगवान से योग हो जाय। संसार का सबसे बड़ा कल्याण यही है। जो लोग देशसेवा या संसार सेवा करना चाहते हों वे भगवान से योग करके सबके वियोग-दुःख को दूर करने का परम्परा से सिद्ध, मुनि महात्माओं का योग चला आया है उसमें युक्त हों। अन्य सब उद्योग, जिनमें अपने स्वरूप की पहचान नहीं और इस कारण संसार के रूप की भी पहचान नहीं, केवल दुःख के ही साधन हैं।

संसार भगवान का कर्म है। कर्म नाम ही संसार का है। कर्म कहते हैं विसर्ग को अर्थात् सृष्टि रचने को—अपना संकल्प मूर्तिमान करने को और उस मूर्ति में आत्म-स्वरूप डालने को। मूर्ति कर्म है और उस मूर्ति को चैतन्य करना उस कर्म की परि-समाप्ति है—

'सर्वं कर्माखिलं पार्थ
ज्ञाने परिसमाप्यते।'

यह परिसमाप्ति यही है कि श्री भगवान के संकल्प से जो चैतन्यांश निकलकर काल-वशात् अहंभाव से बद्ध होकर मूर्तिमान हुआ वह अपने अंशरूप को जानकर पूर्ण रूप के साथ योगयुक्त हो। इस प्रकार यह संसार रूप कर्म—व्यष्टिशः और समष्टिशः—भगवत्-संकल्प का मूर्तिमान रूप है और इसकी परि-समाप्ति श्रीभगवान के साथ इसका योग है। यह योग समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो

(पृष्ठ ४६ पर पढ़िए)

श्री अवनीश कुमार भटनागर

श्री सिद्धगुफा ही गुरु

श्री सिद्धगुफा की स्थापना महाप्रभु श्री रामलालजी की परम कृपा से सवाई गांव की इस धराधाम पर प्रतिष्ठित हुई। यह गुफा एक सामान्य जन की दृष्टि में तो ईंट गारे से निर्मित है। परन्तु इसकी महिमा बड़ी विलक्षण है। जिस प्रकार सिद्धों का रोम-रोम प्रकाशित होता है, उसी प्रकार श्री सिद्धगुफा की रज का कण-कण प्रकाशमान है। मनोवांछित वस्तुओं को प्रदान करने वाली भगवती श्री सिद्धगुफा प्रातः स्मरणीया और जगतवन्दनीया है। योग शक्ति का प्रचार श्री सिद्धगुफा के परम पवित्र धाम से जगत में निरन्तर प्रकाश कर रहा है। यह गुफा महाप्रभु श्री रामलाल जी की पवित्र तपस्थली है। इसी श्री सिद्धगुफा के पवित्र धाम में महाप्रभु श्री रामलालजी द्वारा अनेक अलौकिक और विलक्षण लीलायें होती रही हैं। उन्होंने यहीं से अणिमा सिद्धि द्वारा आकाश गमन करते हुए श्री कैलाश (हिमालय) के लिए प्रस्थान किया था, और फिर १२ वर्ष पश्चात् पुनः प्रकट होकर श्री सिद्धगुफा को प्रणाम किया। इसी त्रिलोक वन्द्या श्री सिद्धगुफा धाम में उनके परम प्रिय शिष्य आनन्दकन्द सिद्धेश्वर प्रभु श्री चन्द्रमोहनजी महाराज ने इस गुरुपीठ को अपनी गहन तपस्या और अलौकिक लीलाओं से सिद्धपीठ के रूप में न केवल भारत में अपितु भारत के बाहर भी प्रख्यात किया। इसकी ख्याति के कारण ही इटली, फ्रांस, अमरीका, इगलैण्ड आदि देशों के योग-जिज्ञासु साधक प्रायः यहाँ आकर दीक्षा ग्रहण कर अपने जीवन को सार्थक किया करते थे।

इस पावन गुरुपीठ में हमारे सद्गुरु अपने अलख अलौकिक रूप में सदैव विराजमान हैं। वे यहाँ से अपनी कृपा की किरणें अपने उन सभी शिष्यों पर प्रकाशित करते रहते हैं, जो उन्हें अपनी ध्यान मुद्रा में श्रद्धापूर्वक देखने की चेष्टा करते हैं तथा जो इस सिद्धगुफा को अपना गुरु मानकर सदा इसके रजकणों का पूजन व धारण करते हैं। ★

(पृष्ठ ४५ का शेष)

कर उसको घेरे हुए हैं। श्रीभगवान की निज सत्ता में तो नित्ययोग है ही, किसी समय भी वियोग नहीं, पर कर्मसत्ता में आत्मविस्मृति से जो वियोग हुआ है, उसीसे संसार आनन्दमय होकर भी दुःखमय प्रतीत हो रहा है—नित्ययोग के भीतर ही यह विरह-दुःख है। संसार के प्राणिमात्र का दुःख इसी दुःख का अंश है। आत्मविस्मृति के नष्ट होते ही संसार भगवान से नित्ययुक्त है ही।

आत्मविस्मृति की अवस्था में संसार दुःखमय है। आत्मस्मृति (कल्पना नहीं) के होते ही संसार आनन्दमय है, क्योंकि भगवान् के साथ संसार का नित्ययोग प्रकट हो गया। इसी योग के लिए नानाविध भावों से संसार तरस रहा है।

सत्यं·शिवं·सुन्दरम्

स्वामी विरजानन्द सरस्वती

उपदेश तो कितने ही सुने हैं, किताबों में पढ़े भी हैं। पर उसका कुछ अंश भी यदि जीवन में न पाल सको तो हजार उपदेश देने पर भी सब निष्फल ही है। कोई दूसरा तुम्हारे लिए कुछ भी नहीं कर सकेगा, खुद को ही करना पड़ेगा। जो अपने जीवन-मरण की कीमत चुकाने को भी कटिबद्ध होकर लग जाता है, भगवान उसी की सहायता करते हैं, उसी पर कृपा करते हैं। और तो और वे उसका समस्त भार भी अपने कन्धों पर लेकर उसे मार्ग में दूर तक पहुँचा आते हैं। प्रथम पुरुषकार, बाद में कृपा, अन्त में वस्तुलाभ।

× × ×

ठीक-ठीक धर्मोपलब्धि बड़ी मुश्किल बात है, हर किसी को नहीं हो पाती। भीतर कुछ पदार्थ, सार चाहिए—सुकृति, शुभ संस्कार, सरलता, आन्तरिकता, अभावबोध, यही सब। "भीगे असार काठ" देखकर परम दयालु भगवान श्रीराम कृष्ण भी उनकी ओर निगाह उठाकर नहीं देखते थे। कहते थे इनका इस जन्म में नहीं होगा। भीगे काठ यानी घोर संसारी बद्ध जीव।

× × ×

जोर-जबरदस्ती करके ज्यादा जप-ध्यान नहीं करना चाहिए जिससे अतिरिक्त थकावट या अवसाद का अनुभव होने लगे। इसमें कभी हित का अहित हो जाता है। जप-ध्यान को क्रम से धीरे-धीरे बढ़ाना उचित है। आन्तरिकता और दृढ़ संकल्प हुआ तो प्रभु-कृपा से समय आने पर सब होगा और सब कुछ मिलेगा।

× × ×

खूब निष्ठा, अध्यवसाय और धैर्यपूर्वक जप-ध्यान करते चलो। धीरे-धीरे मन स्थिर होगा, ध्यान जमेगा—और वह एक नशे की आदत-सा हो उठेगा। एक भी दिन नहीं किया तो कुछ भी अच्छा नहीं लगेगा, बड़ा अशान्ति का अनुभव होगा, जैसा नशाखोरों को नशे की वस्तु न मिलने पर होता है। तब सभी फीका लगेगा। इच्छा होगी, सदा उसी में ही डूबा रहूँ।

× × ×

शिव और शक्ति, पुरुष और प्रकृति—दोनों एक, एक में दोनों, परमार्थतः अभेद हैं। भेद-कल्पना तभी तक है जब तक हमारी द्वैतबुद्धि है, उपास्य-उपासक भाव है।

× × ×

गुरु, इष्ट और देवी-देवताओं के सपने देखना बड़ा अच्छा है। इससे मन में काफी उत्साह, आनन्द होता है। पर न देख पाने से मन खराब करने की जरूरत नहीं। ऐसे स्वप्न देखकर चाहे जिसके पास न कहते फिरो, चाहो तो गुरु को कह सकते हो। और स्वप्न के प्रत्येक अंश का क्या अर्थ है इसे लेकर अपना सिर न घुमाओ। स्वप्न, स्वप्न ही है, उसमें कोई नियमित सामंजस्य-सूत्र होगा ऐसी आशा करना वृथा है। वह तो एकमात्र ईश्वरीय आदेश या ध्यान में साक्षात् दर्शन या उपलब्धि में ही सम्भव है, जिसकी सत्यता के विषय में किंचित्मात्र भी सन्देह का अवसर नहीं रहता और जिसे पाकर मनुष्य का जीवन ही बदल जाता है—मनुष्य देवता हो जाता है। और ऐसा चाहे जिसको नहीं हो जाता, उसके लिए विपुल साधना और उनकी कृपा की अपेक्षा है।

× × ×

किसी-किसी को स्वप्न में मन्त्र मिल जाता है। पर देखा जाता है, अनेक जगह वह शास्त्रानुमोदित नहीं, अथवा वह खुद की चिन्ता-कल्पना से उदित हुआ होता है। फिर भी दृढ़ विश्वास और निष्ठा के साथ जप करते रहने पर, समय पर उससे भी सिद्ध-लाभ हो सकता है।

× × ×

एकान्त जगह में, क्षीण प्रकाश या अन्धकार में ध्यान करना चाहिए, कपड़े-लत्ते ढीले रखने चाहिए; मुँह बन्द करके नाक से ही श्वास-प्रश्वास निकले। ध्यान के समय इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करने की चेष्टा करनी चाहिए। आँखें बन्द कर (मानस) दृष्टि, हृदय में अर्थात् अपने अन्तर के भी अन्तर में रखनी चाहिए और सोचना चाहिए कि इष्ट वहीं विराज रहे हैं।

× × ×

ध्यान करते समय देहात्मबोध, यानी यह शरीर ही मैं हूँ, इस भाव को भुला दो, खुद को अहं-अभिमानी बोधस्वरूप सूक्ष्म सत्ता अनुभव करो और इष्ट को सोचो उपाधि-रहित नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-चैतन्यस्वरूप। वे तुममें, तुम्हारे बोध में बोधस्वरूप से निवास करते हैं। और तुम भी उनमें, उनके बोध में बोधस्वरूप से रहते हो। ये बातें साधनासापेक्ष हैं। बात-चीत में बतलाई नहीं जा सकतीं। "पाशबद्ध जीव, पाशमुक्त शिव।"

× × ×

ध्यान करते समय सोचो 'हे प्रभो, परमार्थतः मैं तुम्हारा ही स्वरूप हूँ, केवल माया-मोह से बद्ध होकर 'मैं-मैं' 'मेरा-मेरा' करते, देह में आत्मबुद्धि करके, कुचिन्ता, कुवासना, कुवृत्ति के वश में होकर, मेरी ऐसी दुर्दशा हुई है, मैं रोग-शोक-दुःख-दैन्य-भय और भावना-ग्रस्त; दीन, हीन, मलिन; मृत्यु के वश में; विषयों के अधीन; असहाय, निरुपाय, निःसम्बल, क्षुद्र, दुर्बल, अपदार्थ हो चुका हूँ। हे प्रभो, तुम अपने गुणों से मुझ पर दया करके मेरी समस्त पापराशि, दोषराशि, अभावराशि, दुर्दशाराशि जड़ से नष्ट कर दो, जिससे कि मैं तुम्हारे नित्य सत्य स्वरूप की प्राप्ति कर सकूं; अपने यथार्थ स्वरूप—नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव—की उपलब्धि कर सकूं; मेरे अन्दर जो अनन्त शक्ति निद्रित निर्जीव अवस्था में पड़ी है, उसे जाग्रत कर सकूं।

योग सिद्धान्तों का समर्थक और प्रचारक

सिद्धयोग

(उच्चस्तरीय दार्शनिक हिन्दी मासिक)

संस्थापक :
ब्रह्मलीन योगयोगेश्वर
अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

प्रकाशन स्थल :
श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सिद्धपीठ सवाई ग्राम, (आगरा)

गत २४ वर्षों से नियमित प्रकाशित

आप भी इसके ग्राहक-परिवार के सदस्य बनकर गुरुदेवजी की स्मृति को चिरस्थायी बनाने में अपना सक्रिय सहयोग दीजिए।

वार्षिक मूल्य ४५) रु० पेशगी

तपस्विभ्योऽधिको योगी,
शानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी,
तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
—गीता ६/४६

अर्थात्

योगी—तपस्वी, कर्मकांडी और शास्त्रज्ञानी आदि सभी से बड़ा होता है। इसलिए हे अर्जुन तू योगी बन।

योगी जीवन के इस बड़प्पन को आप किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं, इसे जानके लिए 'सिद्धयोग' का नियमित रूप से पढ़ना जरूरी है।

'सिद्धयोग' का प्रत्येक पृष्ठ आपको तथा आपके परिवार के प्रत्येक सदस्य को, चाहे वह बाल, युवा अथवा वृद्ध ही क्यों न हो, सुखी और शाश्वत् आनन्द की प्राप्ति की नई दिशा और आयाम देगा।

★

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008, NOVEMBER, 1991

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा

PRINTED MATTER
Book–Post

श्री ....

....

....

....

मानव-शरीर का दुरुपयोग

'मानव-शरीर अनेक जन्मों के पुण्यों से प्राप्त होता है। जो शरीर देवों को दुर्लभ है उसे व्यर्थ नष्ट कर देने में हमारी भूल है। हम अपने कर्त्तव्य को भुला दें, उसका स्मरण न करें, उसके बनाये नियमों का पालन न करें, तब हम दुखी न हों तो कौन होगा? पञ्चतत्व का यह सुन्दर शरीर है। उसकी प्रभा से देदीप्यमान हो रहा है। उसके सम्बन्ध से सबसे सम्बन्धित है। उसके कारण ही एक-एक छोटे-छोटे शरीर रूपी ब्रह्माण्ड का चमत्कार होता रहता है। भीतर-ही-भीतर पावर हाउस का काम करता रहता है और सब काम होते रहते हैं। वहीं स्टोर है, जिसमें पदार्थों का रस एकत्र होता रहता है (ईश्वर अंस जीव अविनाशी)। इसकी कृपा को सब चाहते हैं। जब ज्योति निकल जाती है तो शरीर शीघ्र नष्ट कर दिया जाता है, उसे फेंक देते हैं। कोई देखना भी नहीं चाहता। क्या विचित्र परिवर्तन हो जाता है। माता-स्त्री सब उस शरीर से मोह त्याग देते हैं।' अतः प्राण रहते हुए इस देह का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए।